

## Chapter छब्बीस

## प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।

यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥ १ ॥

## शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अथ—अब; ते—तुमसे; सम्प्रवक्ष्यामि—कहूँगा; तत्त्वानाम्—परम सत्य की कोटियों के; लक्षणम्—लक्षण; पृथक्—अलग-अलग; यत्—जिसे; विदित्वा—जानकर; विमुच्येत—मुक्त हो सकता है; पुरुषः—कोई व्यक्ति; प्राकृतैः—प्रकृति के; गुणैः—गुणों से।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : हे माता, अब मैं तुमसे परम सत्य की विभिन्न कोटियों का वर्णन करूँगा जिनके जान लेने से कोई भी पुरुष प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, केवल भक्ति के द्वारा भगवान् को समझा जा सकता है ( *भक्त्या मामभिजानाति* )। *भागवत* में भक्ति का विषय माम् अथवा कृष्ण को बताया गया है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में व्याख्या की गई है कि कृष्ण को समझने का अर्थ है कृष्ण को उनकी अंतरंगा शक्ति, उनकी बहिरंगा शक्ति, उनके विस्तारों तथा अवतारों समेत समझना। कृष्ण को समझने के लिए ज्ञान के अनेक विभाग हैं। सांख्य दर्शन विशेषतः उन लोगों के लिए है, जो इस जगत में बद्ध हैं। इसे परम्परा प्रणाली या शिष्य-परम्परा द्वारा भक्ति के विज्ञान के रूप में समझा जाता है। भक्ति के प्रारम्भिक अध्ययनों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। भगवान् अब भक्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि ऐसे अध्ययन से मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भी इसी की पुष्टि हुई है। *ततो मां तत्त्वातो ज्ञात्वा* भगवान् को ज्ञान की विभिन्न कोटियों द्वारा जानकर मनुष्य भगवद्धाम जाने का अधिकारी बन जाता है। इसकी भी यहाँ पर व्याख्या की गई है। सांख्य दर्शन में भक्ति के विज्ञान ( भक्ति तत्त्व ) को जान लेने से मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति के जादू से मुक्त होकर शाश्वत आत्मा भगवद्धाम में प्रविष्ट करने का अधिकारी बन जाता है। जब तक मनुष्य में रंचमात्र भी इच्छा रहती है या प्रकृति पर अधिकार जताने की

भावना रहती है तब तक वह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः मनुष्य को विश्लेषण द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना होगा जैसाकि भगवान् कपिल ने सांख्य दर्शन में समझाया है।

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।  
यदाहर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ २ ॥

### शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; निःश्रेयस-अर्थाय—चरम सिद्धि के लिए; पुरुषस्य—मनुष्य का; आत्म-दर्शनम्—आत्म-साक्षात्कार; यत्—जो; आहुः—कहा है; वर्णये—वर्णन करूँगा; तत्—वह; ते—तुमसे; हृदय—हृदय में; ग्रन्थि—ग्रन्थियाँ; भेदनम्—काटती हैं।

आत्म-साक्षात्कार की चरम सिद्धि ज्ञान है। मैं तुमको वह ज्ञान बतलाऊँगा जिससे भौतिक संसार के प्रति आसक्ति की ग्रन्थियाँ कट जाती हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि विशुद्ध आत्मा के सम्यक ज्ञान से अथवा आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य भौतिक आसक्ति से मुक्त हो सकता है। ज्ञान से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य अपने आपको, अपने यथार्थ रूप में, देख सकता है। इसकी पुष्टि श्वेताश्वतर उपनिषद् (३.८) में भी इसकी पुष्टि की है। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति केवल अपनी आध्यात्मिक स्थिति को जान लेने से या अपने को अपने रूप में देख लेने से मनुष्य भौतिक बन्धन से छूट सकता है। वैदिक साहित्य में आत्मदर्शन की विभिन्न विधियों का वर्णन हुआ है और भागवत में इसकी पुष्टि हुई है (पुरुषस्य आत्म-दर्शनम्) कि मनुष्य को अपने आपको देखना होता है और जानना होता है कि वह क्या है। जैसाकि कपिलदेव अपनी माता को समझाते हैं, उपयुक्त प्रामाणिक स्रोत से सुनकर यह “दर्शन” किया जा सकता है। कपिलदेव सबसे बड़े प्रमाण हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं और यदि कोई बिना मतान्तर के जो कुछ कहा गया है उसे यथारूप में ग्रहण करता है, तो वह आत्मदर्शन कर सकता है।

भगवान् चैतन्य ने सनातन गोस्वामी से व्यक्ति की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या की है। उन्होंने प्रत्यक्ष कहा कि प्रत्येक जीवात्मा कृष्ण का शाश्वत दास है। जीवेर ‘स्वरूप’ हय कृष्णोर ‘नित्य दास’। प्रत्येक जीव शाश्वत दास है। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो

जाता है कि वह परमात्मा का अंशरूप है और उसकी शाश्वत स्थिति परमेश्वर की संगति में रह कर सेवा करना है, तो वह स्वरूपसिद्ध हो जाता है। आत्मा (स्व) को भलीभाँति समझने की इस स्थिति से भौतिक आसक्ति की ग्रन्थि कट जाती है (हृदय-ग्रन्थि भेदनम्)। अहंकार या झूठे देहात्मबोध के कारण मनुष्य माया के पाश में आ जाता है, किन्तु जैसे ही उसे यह ज्ञान हो जाता है कि गुणात्मक रूप से वह परमेश्वर-जैसा तत्व है, क्योंकि वह आत्मा की उसी कोटि से सम्बन्धित है तथा उसकी शाश्वत स्थिति सेवा करने के लिए है, तो उसे आत्मदर्शनम् तथा हृदय ग्रन्थि भेदनम् अथवा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य भौतिक जगत के प्रति आसक्ति की ग्रन्थि को काट सकता है, तो उसकी समझ ज्ञान कहलाती है। आत्मदर्शनम् का अर्थ है ज्ञान के द्वारा अपने आपको देखना। अतः जब मनुष्य वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन से अहंकार से रहित हो जाता है, तो वह अपने आपको देखता है और मनुष्य-जीवन की अन्तिम आवश्यकता यही है। इस प्रकार आत्मा चौबीस प्रकार की प्रकृति के बन्धन से विलग हो जाता है। क्रमबद्ध सांख्य दार्शनिक विधि का अनुसरण ज्ञान है और यही ज्ञान तथा आत्मदर्शन है।

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।  
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

अनादिः—जिसका आदि न हो; आत्मा—परमात्मा; पुरुषः—भगवान्; निर्गुणः—प्रकृति के गुणों से परे; प्रकृतेः परः—इस भौतिक संसार से परे; प्रत्यक्-धामा—सर्वत्र दर्शनीय; स्वयं-ज्योतिः—स्वयं प्रकाशवान्; विश्वम्—सम्पूर्ण सृष्टि; येन—जिससे; समन्वितम्—पालित है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परमात्मा हैं और उनका आदि नहीं है। वे प्रकृति के गुणों से परे और इस भौतिक जगत के अस्तित्व के परे हैं। वे सर्वत्र दिखाई पड़ने वाले हैं, क्योंकि वे स्वयं प्रकाशवान् हैं और उनकी स्वयं प्रकाशवान् कान्ति से सम्पूर्ण सृष्टि का पालन होता है।

तात्पर्य : श्रीभगवान् को आदिरहित (अनादि) बताया गया है। वह पुरुष अर्थात् परम आत्मा है। पुरुष का अर्थ है “व्यक्ति।” जब हम अपने वर्तमान अनुभव से किसी व्यक्ति के विषय में सोचते हैं, तो उसका आदि होता है। इसका भाव यह है कि उसने जन्म लिया होगा

और उसके जीवन के प्रारम्भ से लेकर अब तक का इतिहास होगा। किन्तु यहाँ पर भगवान् को अनादि अर्थात् आरम्भ से रहित कहा गया है। यदि हम सभी व्यक्तियों का परीक्षण करें तो प्रत्येक का आदि होता है, किन्तु जब हम ऐसे व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जिसका कोई आदि ही नहीं हो तो वह परम पुरुष होता है। *ब्रह्म-संहिता* में यही परिभाषा दी हुई है *ईश्वरः परमः कृष्णः* परमेश्वर परम नियन्ता कृष्ण है; वह आदिरहित है और हर एक का उद्गम है। यह परिभाषा समस्त वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।

भगवान् को आत्मा कहा गया है। तो आत्मा की क्या परिभाषा है? आत्मा सर्वत्र दर्शनीय है। ब्रह्म का अर्थ है “महान।” उसकी महानता सर्वत्र परिलक्षित है। और वह महानता क्या है? चेतना। हमें चेतना का व्यक्तिगत अनुभव होता है, क्योंकि यह पूरे शरीर में फैली है यहाँ तक कि प्रत्येक रोमकूप में हम चेतना का अनुभव करते हैं। यह व्यक्तिगत चेतना है। इसी प्रकार परम चेतना होती है। इसके लिए एक लघु प्रकाश तथा सूर्य प्रकाश का उदाहरण लिया जा सकता है। सूर्य प्रकाश सर्वत्र, यहाँ तक कि कमरे के भीतर अथवा आकाश में भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु एक लघु प्रकाश विशिष्ट सीमा में ही अनुभव किया जाता है। इसी प्रकार हमारी चेतना हमारे शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु परम चेतना या ईश्वर का अस्तित्व सर्वत्र देखा जाता है। वह अपनी शक्ति से सर्वत्र विद्यमान है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि हमें जहाँ कहीं तथा सर्वत्र जो कुछ दिखता है, वह परमेश्वर की शक्ति का वितरण है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् सर्वव्यापी है और अपनी दो प्रकार की शक्तियों, आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्तियों के द्वारा वह सर्वत्र विद्यमान रहता है। ये दोनों शक्तियाँ सर्वत्र फैली हुई हैं और यही भगवान् के अस्तित्व का प्रमाण है।

सर्वत्र चेतना का अस्तित्व क्षणिक नहीं है। यह अनादि है अर्थात् इसका कोई प्रारम्भ नहीं, अतः यह अनन्त भी है। यहाँ इस मत को स्वीकार नहीं किया गया कि चेतना का विकास भौतिक संयोग की किसी एक अवस्था में होता है, क्योंकि जो चेतना सर्वत्र विद्यमान है उसका कोई आदि नहीं है। यह भौतिकतावादी या निरीश्वरवादी सिद्धान्त कि आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं

है और चेतना पदार्थ के संयोग से प्रतिफलित है मान्य नहीं है। पदार्थ आदिविहीन नहीं होता, इसका आदि होता है। जिस प्रकार इस भौतिक शरीर का आदि है उसी प्रकार विराट शरीर का भी है। और जिस तरह हमारा भौतिक शरीर हमारे आत्मा के आधार पर प्रारम्भ हुआ, उसी तरह यह समग्र विराट शरीर परमात्मा के आधार पर प्रारम्भ हुआ। वेदान्त-सूत्र का कथन है *जन्माद्यस्य*। यह समग्र भौतिक प्रदर्शन इसकी उत्पत्ति, वृद्धि, पालन तथा इसका संहार परम पुरुष से उद्भूत है। *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं, “मैं आदि हूँ, प्रत्येक वस्तु के जन्म का स्रोत हूँ।”

यहाँ पर भगवान् का वर्णन हुआ है। वे अकारण हैं और समस्त कारणों के कारण हैं। परः का अर्थ है “परे”, “सृजनात्मक शक्ति से परे।” भगवान् सृजनात्मक शक्ति के स्रष्टा हैं। हम देखते हैं कि इस संसार में सृजनात्मक शक्ति है, किन्तु भगवान् इस शक्ति के अधीन नहीं हैं। वे तो *प्रकृति-परः* अर्थात् इस शक्ति से परे हैं। उन्हें भौतिक शक्ति (माया) द्वारा उत्पन्न तीन प्रकार के ताप नहीं सताते, क्योंकि वे इससे परे हैं। प्रकृति के गुण उनका स्पर्श तक नहीं कर पाते। यहाँ पर *स्वयं-ज्योतिः* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे साक्षात् प्रकाश हैं। हमें इस जगत में यह अनुभव प्राप्त है कि एक का प्रकाश दूसरे का परावर्तन है, जिस प्रकार चाँदनी धूप का परावर्तन है। धूप ब्रह्मज्योति का परावर्तन है। इसी तरह ब्रह्मज्योति परमेश्वर के शरीर का परावर्तन है। *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है— *यस्य प्रभा प्रभवतः*। ‘ब्रह्मज्योति’ भगवान् की शारीरिक कान्ति के फलस्वरूप है। इसीलिए यहाँ *स्वयं-ज्योतिः* कहा गया है अर्थात् वे स्वयं प्रकाश हैं। उनका प्रकाश अनेक प्रकार से बँटा हुआ है यथा ब्रह्मज्योति, सूर्यप्रकाश, चन्द्रप्रकाश। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि आध्यात्मिक जगत में सूर्यप्रकाश, चाँदनी या बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। उपनिषदों से भी इसकी पुष्टि होती है। चूँकि भगवान् की शारीरिक आभा आध्यात्मिक जगत को प्रकाशित करने के लिए पर्याप्त है, अतः सूर्यप्रकाश, चाँदनी या अन्य किसी प्रकाश या बिजली की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यह आत्म प्रकाश भी इस मत का खण्डन करता है कि आत्मा या आत्म-चेतना भौतिक संयोग की किसी

अवस्था विशेष में विकसित होती है। *स्वयं-ज्योतिः* पद सूचित करता है कि किसी भौतिकता का रंचमात्र भी स्पर्श नहीं होता। यहाँ इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् की सर्वव्यापकता उनके सर्वत्र प्रकाश से है। हमें अनुभव होता है कि सूर्य एक स्थान पर स्थित है, जब कि उसका प्रकाश चारों ओर लाखों मील तक प्रसारित है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है। इसी प्रकार यद्यपि परम प्रकाश उनके निजी धाम वैकुण्ठ या वृन्दावन में स्थित है, किन्तु उनका प्रकाश न केवल स्वर्ग में अपितु उसके परे भी व्याप्त है। इस लोक में भी वही प्रकाश सूर्य गोलक द्वारा परावर्तित होता है और सूर्यप्रकाश चन्द्रगोलक द्वारा। इस प्रकार अपने धाम में स्थित रहते हुए भी उनका प्रकाश आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत्‌ओं के ऊपर फैला रहता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) इसकी पुष्टि करती है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—वे भूलोक में निवास करते हैं, किन्तु तो भी वे सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान हैं। वे प्रत्येक वस्तु की परम आत्मा हैं, भगवान् हैं और उनमें असंख्य दिव्य गुण हैं। यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि वे निस्सन्देह पुरुष हैं, किन्तु वे इस जगत्‌ के पुरुष नहीं हैं। मायावादी चिन्तक यह नहीं समझ सकते कि इस भौतिक जगत्‌ के परे भी पुरुष हो सकता है इसीलिए वे निर्विशेषवादी हैं। किन्तु यहाँ बड़े ही उत्तम ढंग से बताया गया है कि भगवान् इस संसार से परे हैं।

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।

यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

सः एषः—वही भगवान्; प्रकृतिम्—भौतिक शक्ति को; सूक्ष्माम्—सूक्ष्म; दैवीम्—विष्णु से सम्बन्धित, वैष्णवी; गुणमयीम्—तीन गुणों से युक्त; विभुः—महान् से महानतम्; यदृच्छया—स्वेच्छा से; इव—पर्याप्त; उपगताम्—प्राप्त; अभ्यपद्यत—स्वीकार किया; लीलया—अपनी लीला के रूप में।

उस महान् से महानतम् श्रीभगवान् ने सूक्ष्म भौतिक शक्ति को अपनी लीला के रूप में स्वीकार किया जो त्रिगुणमयी है और विष्णु से सम्बन्धित है।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में गुणमयीम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दैवीम् का अर्थ है “भगवान् की शक्ति” और गुणमयीम् का अर्थ है “प्रकृति के तीन गुणों से युक्त।” जब भगवान् की भौतिक शक्ति प्रकट होती है, तो यह गुणमयीम् शक्ति तीनों गुणों की शक्तियों के

प्राकट्य के रूप में होती है, यह आवरण के रूप में कार्य करती है। भगवान् से उद्भूत शक्ति दो रूपों में प्रकट होती है परमेश्वर से उद्भव के रूप में तथा उनके मुखमण्डल के आवरण के रूप में। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि चूँकि सारा जगत प्रकृति के तीनों गुणों से मोहित रहता है, अतः सामान्य जीव ऐसी शक्ति से आच्छादित होने के कारण भगवान् को नहीं देख सकता। यहाँ पर बादल का उदाहरण सटीक होगा। सहसा आकाश में एक बड़ा बादल प्रकट हो सकता है। इस बादल को दो प्रकार से देखा जा सकता है। सूर्य के लिए यह उनकी शक्ति की सृष्टि है, किन्तु सामान्य बद्धजीव के लिए यह उसकी आँखों के लिए आवरण (पर्दा) है, बादल के कारण सूर्य नहीं देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि सूर्य वास्तव में बादल से ढक गया हो, केवल सामान्य व्यक्ति की दृष्टि ढक जाती है। इसी प्रकार यद्यपि माया परमेश्वर को आच्छादित नहीं कर सकती, क्योंकि वे माया से परे हैं, किन्तु यही माया सामान्य जीवात्माओं को आच्छादित कर लेती है। इस प्रकार आच्छादित होने वाले बद्धजीव पृथक्-पृथक् जीवात्माएँ हैं और जिनकी शक्ति से माया उत्पन्न होती है वे भगवान् हैं।

*श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (प्रथम स्कन्ध के सातवें अध्याय में) कहा गया है कि व्यासदेव ने अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान् का दर्शन किया और माया भगवान् के पीछे खड़ी रही। इसका यह अर्थ हुआ कि माया भगवान् को आच्छादित नहीं कर सकती, जिस तरह कि अंधकार सूर्य को आच्छादित नहीं कर सकता। अंधकार केवल उतना ही क्षेत्र घेर पाता है, जो सूर्य की तुलना में नगण्य है। अंधकार किसी गुफा को ढक सकता है, खुले आकाश को नहीं। इसी प्रकार माया की आच्छादन शक्ति सीमित है और वह भगवान् पर असर नहीं दिखा पाती इसीलिए वे विभु कहलाते हैं। जिस तरह बादल के प्राकट्य को सूर्य स्वीकारता है उसी प्रकार भगवान् कुछ अन्तराल के लिए माया के प्राकट्य को स्वीकारते हैं। यद्यपि उनकी यह भौतिक शक्ति भौतिक जगत की उत्पत्ति के काम आती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इस शक्ति से वे आच्छादित हैं। जो लोग इस भौतिक शक्ति से आच्छादित होते हैं, वे बद्धजीव कहलाते हैं। भगवान् उत्पत्ति, पालन तथा संहार जैसी लीलाओं के लिए भौतिक शक्ति को

स्वीकारते हैं। किन्तु बद्धजीव आच्छादित चला आ रहा होता है, वह यह नहीं समझ पाता कि इस भौतिक शक्ति के परे भगवान् हैं, जो समस्त कारणों के कारण हैं, ठीक उसी तरह अल्पज्ञ व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि बादलों के पार सूर्यप्रकाश है।

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।

विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

गुणैः—तीनों गुणों से; विचित्राः—विविध प्रकार का; सृजतीम्—उत्पन्न करती हुई; स-रूपाः—रूपों सहित; प्रकृतिम्—प्रकृति; प्रजाः—जीवात्माएँ; विलोक्य—देखकर; मुमुहे—मोहग्रस्त था; सद्यः—तुरन्त; सः—जीवात्मा; इह—इस संसार में; ज्ञान-गूहया—ज्ञान-आवरण के गुण से।

अपने तीन गुणों से अनेक प्रकारों में विभक्त यह भौतिक प्रकृति जीवों के स्वरूपों को उत्पन्न करती है और इसे देखकर सारे जीव माया के ज्ञान-आच्छादक गुण से मोहग्रस्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : माया में ज्ञान को आच्छादित करने की शक्ति है, किन्तु इस आवरण (आच्छादन) को भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता। यह केवल प्रजाः या भौतिक शरीर के साथ पैदा हुए हैं, अर्थात् बद्धजीवों पर ही लागू होता है। जैसाकि भगवद्गीता तथा अन्य वैदिक साहित्य में कहा गया है, विभिन्न प्रकार के जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। भगवद्गीता (७.१२) में बहुत अच्छी तरह व्याख्या की गई है कि यद्यपि सतो, रजो तथा तमोगुण भगवान् से उत्पन्न हैं, किन्तु भगवान् इनके अधीन नहीं होते। दूसरे शब्दों में, श्रीभगवान् से उद्भूत शक्ति उन पर प्रभाव नहीं डाल सकती, वह बद्धजीवों पर प्रभाव डालती है, जो भौतिक शक्ति से आच्छादित रहते हैं। भगवान् समस्त जीवों के पिता हैं, क्योंकि वे भौतिक शक्ति में जीवों का गर्भाधान करते हैं। इसीलिए बद्धजीवों को भौतिक शक्ति से उत्पन्न शरीर प्राप्त होते हैं जबकि इन जीवों का पिता तीनों गुणों से पृथक् ही रहता है।

पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् ने भौतिक शक्ति को इसलिए स्वीकार किया जिससे वे उन जीवों को लीलाएँ दिखा सकें जो उनका आनन्द लेना चाहती हैं और भौतिक शक्ति पर अधिकार जताना चाहती हैं। यह संसार ऐसे जीवों के तथाकथित भोग के लिए



भगवान् की भौतिक शक्ति से उत्पन्न किया गया है। बद्धजीवों के कष्टों के लिए इस भौतिक जगत की उत्पत्ति क्यों हुई यह अत्यन्त जटिल प्रश्न है। पिछले श्लोक के *लीलया* शब्द में जिसका अर्थ “भगवान् की लीलाओं के लिए” है इसका संकेत मिलता है। भगवान् बद्धजीवों के भोगपरक स्वभाव को सुधारना चाहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् ही एकमात्र भोक्ता हैं। अतः यह भौतिक शक्ति उसके लिए उत्पन्न की गई है, जो भोग करने का स्वाँग भरता है। यहाँ एक उदाहरण उपयुक्त होगा सरकार को पृथक् पुलिस विभाग की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु यह वास्तविकता है कि कुछ नागरिक राज्य के नियमों का पालन नहीं करेंगे, अतः आततायियों से निपटना आवश्यक हो जाता है। आवश्यकता न रहने पर भी आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार बद्धजीवों को कष्ट देने के लिए इस भौतिक जगत को उत्पन्न करने की कोई आवश्यकता न थी, किन्तु साथ ही कुछ ऐसे लोग हैं, जो नित्यबद्ध हैं अर्थात् निरन्तर बद्ध रहते हैं। हम कहते हैं कि वे अनादि काल से बद्ध रहे हैं, क्योंकि कोई यह नहीं पता लगा सकता कि जीव, जो परमेश्वर का भिन्नांश है, कब भगवान् की श्रेष्ठता के प्रति विद्रोही बन गया।

वस्तुतः मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं, वे जो भगवान् के नियमों के पालक हैं और वे जो नास्तिक हैं तथा ईश्वर के अस्तित्व को न मानते हुए अपने नियम बनाना चाहते हैं। वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हर व्यक्ति अपने नियम या अपना धर्म-पंथ बना सकता है। इन दोनों श्रेणियों के अस्तित्व के प्रारम्भ को जाने बिना हम यह निश्चित रूप से मान सकते हैं कि कुछ जीवों ने भगवान् के नियमों के विरुद्ध विद्रोह किया होगा। ऐसे जीव बद्धजीव कहलाते हैं, क्योंकि वे तीनों गुणों से बँधे होते हैं। इसीलिए यहाँ पर *गुणैर्विचित्राः* शब्द व्यवहृत हुए हैं।

इस संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं। आत्माओं के रूप में ये सभी इस जगत से परे हैं। तो फिर वे जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपने आपको क्यों प्रदर्शित करते हैं? इसका यहाँ उत्तर दिया गया है। वे प्रकृति के तीन गुणों के चक्र के अधीन रहते हैं। चूँकि उनकी उत्पत्ति भौतिक शक्ति से हुई, अतः उनके शरीर भौतिक तत्त्वों से बने होते हैं। भौतिक शरीर से

आच्छादित होने के कारण आध्यात्मिक स्वरूप समाप्त हो जाता है। इसीलिए यहाँ पर *मुमुहे* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे इंगित होता है कि वे अपना आध्यात्मिक स्वरूप भूल गये हैं। आध्यात्मिक स्वरूप की यह विस्मृति जीवों में पाई जाती है, क्योंकि वे प्रकृति की शक्ति से आच्छादित होने के कारण बद्ध रहते हैं। एक अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है *ज्ञान गूहया*। गूहा का अर्थ है आवरण। चूँकि छोटे-छोटे बद्धजीवों का ज्ञान आच्छादित रहता है, अतः वे अनेक योनियों में प्रकट होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के सातवें अध्याय में कहा गया है, “जीव भौतिक शक्ति से मोहित रहते हैं।” वेदों में भी कहा गया है कि शाश्वत जीवात्माएँ विभिन्न गुणों से आच्छादित रहती हैं और वे तिरंगी जीव लाल, सफेद तथा नीली कहलाती हैं। लाल रंग रजोगुण का प्रतीक है, श्वेत सतोगुण का और नीला तमोगुण का प्रतीक है। ये प्रकृति के गुण भौतिक शक्ति से सम्बन्धित होते हैं, फलतः विभिन्न गुणों के अन्तर्गत जीव भिन्न प्रकार के शरीर पाते हैं। चूँकि वे अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति विस्मरणशील रहते हैं, अतः शरीरों को आत्मा (स्व) मानते हैं। बद्धजीव के लिए ‘मुझ’ का अर्थ शरीर है। यह मोह कहलाता है।

*कठोपनिषद्* में बारम्बार कहा गया है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कभी भी भौतिक प्रकृति द्वारा प्रभावित नहीं होते। वे तो दर असल बद्धजीव या परमेश्वर के अत्यन्त सूक्ष्म अंश हैं जिन पर भौतिक प्रकृति का प्रभाव पड़ता है और जो भौतिक गुणों के अधीन विभिन्न शरीरों में दिखाई पड़ते हैं।

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।  
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पर—अन्य; अभिध्यानेन—पहचान से; कर्तृत्वम्—कर्म का सम्पादन; प्रकृतेः—प्रकृति का; पुमान्—जीवात्मा; कर्मसु क्रियमाणेषु—कर्म करते समय; गुणैः—तीन गुणों के द्वारा; आत्मनि—अपने आपको; मन्यते—मानता है।

अपनी विस्मृति के कारण दिव्य जीवात्मा प्रकृति के प्रभाव को अपना कर्मक्षेत्र मान बैठता है और इस प्रकार प्रेरित होकर त्रुटिवश अपने को कर्मों का कर्ता मानता है।

**तात्पर्य :** भुलकड़ जीव की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है, जो रोग के कारण पगला जाता है अथवा जिसे भूत लग गया हो और जो अनियन्त्रित कर्म करते हुए भी अपने को नियन्त्रित समझता है। प्रकृति के वशीभूत होकर बद्धजीव भौतिक चेतना में लीन रहता है। इस चेतना में बद्धजीव भौतिकशक्ति के वशीभूत होकर जो भी करता है उसे वह आत्म-प्रेरित मान बैठता है। वास्तव में आत्मा को अपनी शुद्ध अवस्था में कृष्णचेतना में रहना चाहिए। जब कोई व्यक्ति कृष्णचेतना में कार्य नहीं करता तो समझा जाता है कि वह भौतिक चेतना में कार्य कर रहा है। चेतना मारी नहीं जा सकती, क्योंकि जीव का लक्षण ही चेतना है। भौतिक चेतना को केवल शुद्ध करना पड़ता है। कृष्ण या परमेश्वर को स्वामी के रूप में स्वीकर करने तथा अपनी चेतना को भौतिक से कृष्णचेतना में बदल देने से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।

भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ ७ ॥

**शब्दार्थ**

तत्—भ्रान्त धारणा से; अस्य—जीव का; संसृतिः—बद्ध जीवन; बन्धः—बन्धनः; पार-तन्त्र्यम्—पराधीन, निर्भरता; च—तथा; तत्-कृतम्—उससे निर्मित; भवति—है; अकर्तुः—अकर्ता का; ईशस्य—स्वतन्त्र; साक्षिणः—साक्षी, गवाह; निर्वृत-आत्मनः—प्रकृति से प्रसन्न।

भौतिक चेतना ही मनुष्य के बद्धजीवन का कारण है, जिसमें परिस्थितियाँ जीव पर हाबी हो जाती हैं। यद्यपि आत्मा कुछ भी नहीं करता और ऐसे कर्मों से परे रहता है, किन्तु इस प्रकार वह बद्धजीवन से प्रभावित होता है।

**तात्पर्य :** मायावादी विचारक, जो परम आत्मा तथा व्यष्टि आत्मा में अन्तर नहीं कर पाता, कहता है कि जीव की बद्धावस्था उसकी लीला है। किन्तु लीला का अर्थ है भगवान् के कार्यकलापों में नियोजित होना। मायावादी इस शब्द का गलत प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि भले ही जीव मलभक्षी शूकर क्यों न बन जावे, वह अपनी लीलाओं का आनन्द भोगता है। यह अत्यंत घातक व्याख्या है। वस्तुतः परमेश्वर समस्त जीवों के नायक तथा पालक हैं। उनकी लीलाएँ किसी भी भौतिक कार्य से परे हैं। भगवान् की ऐसी लीलाओं को जीव के बद्धकर्मों तक घसीट कर नीचे नहीं लाया जा सकता। बद्धजीवन में जीव भौतिक शक्ति के हाथों में बन्दी

जैसा बना रहता है। भौतिक शक्ति जो भी कराती है, बद्धजीव करता है। उसका अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता, वह कर्म का साक्षी मात्र रहता है। किन्तु उसे कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को न समझने के अपराध में ऐसा करने के लिए बाध्य किया जाता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं कि माया इतनी प्रबल है कि वह दुर्लभ्य होती है। किन्तु यदि जीव केवल इतना ही जान ले कि उसकी स्वाभाविक स्थिति कृष्ण की सेवा करना है और यदि वह इस नियम के अनुसार कार्य करता चले तो वह कितना ही बद्ध क्यों न रहे, माया का प्रभाव तुरन्त दूर हो जाता है। *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में इसका स्पष्ट कथन हुआ है। जो कोई असहाय होने के कारण कृष्ण की शरण लेता है, उसका भार कृष्ण ले लेते हैं और इस तरह माया का प्रभाव मिट जाता है।

आत्मा वास्तव में सच्चिदानन्द है शाश्वत, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण है। किन्तु माया के चंगुल में वह बारम्बार जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था का कष्ट पाता है। मनुष्य को इस सांसारिक परिस्थिति से निबटने तथा अपने आपको कृष्णभक्ति तक लाने के लिए उद्योगशील रहना होता है, क्योंकि इस तरह उसके दीर्घकालीन कष्टों का सहज ही अन्त हो सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बद्धजीव को जो कष्ट मिलता है, वह प्रकृति के प्रति उसकी आसक्ति के फलस्वरूप होता है। इसलिए इस आसक्ति को जड़ पदार्थ से श्रीकृष्ण में स्थानान्तरित कर दिया जाना चाहिए।

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।

भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

कार्य—शरीर; कारण—इन्द्रियाँ; कर्तृत्वे—देवताओं के विषय में; कारणम्—कारण; प्रकृतिम्—प्रकृति; विदुः—विद्वान समझते हैं; भोक्तृत्वे—अनुभव के विषय में; सुख—सुख का; दुःखानाम्—तथा दुख का; पुरुषम्—आत्मा; प्रकृतेः—प्रकृति का; परम्—दिव्य।

बद्धजीव के शरीर, इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के अधिष्ठता देवों का कारण भौतिक प्रकृति है। इसे विद्वान मनुष्य जानते हैं। स्वभाव से दिव्य, ऐसे आत्मा के सुख तथा दुख जैसे अनुभव स्वयं आत्मा द्वारा उत्पन्न होते हैं।

**तात्पर्य :** *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब भगवान् इस संसार में अवतरित होते हैं, तो वे आत्ममाया द्वारा पुरुष के रूप में आते हैं। वे किसी परा प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं किये जाते। वे स्वेच्छा से आते हैं और इसे ही उनकी 'लीला' कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बद्धजीव को प्रकृति के तीन गुणों के अधीन किसी विशेष प्रकार का शरीर तथा इन्द्रियाँ धारण करने के लिए बाध्य किया जाता है। उसे यह शरीर अपनी रुचि के अनुसार प्राप्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि बद्धजीव को स्वतन्त्र चुनाव करने की छूट नहीं होती; उसे अपने कर्म के अनुसार कोई-न-कोई शरीर स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जब शारीरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं जैसी कि सुख तथा दुख में अनुभव की जाती हैं, तो यह समझना चाहिए कि इसका कारण स्वयं आत्मा है। यदि आत्मा चाहे तो इस द्वैतपूर्ण बद्ध जीवन को कृष्ण की सेवा ग्रहण करके बदल सकता है। जीव ही अपने कष्टों का कारण है, किन्तु वह अपने शाश्वत सुख का भी कारण हो सकता है। जब वह कृष्णभक्ति में प्रवृत्त होना चाहता है, तो भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा उसे उपयुक्त शरीर प्रदान किया जाता है और जब वह अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, तो उसे भौतिक शरीर प्रदान किया जाता है। अतः आध्यात्मिक शरीर या भौतिक शरीर स्वीकार करना जीव के मनचाहे चुनाव पर निर्भर करता है, किन्तु एक बार शरीर स्वीकार कर लेने पर सुख या दुख उठाना पड़ता है। मायावादी चिन्तक का कहना है कि जीव शूकर का शरीर धारण करके भी अपनी लीलाओं का आनन्द उठाता है। किन्तु यह मत स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि 'लीला' शब्द भोग की स्वेच्छा स्वीकृति के लिए प्रयुक्त होता है। अतः यह व्याख्या अत्यन्त भ्रामक है। जब दुख को बाध्य होकर स्वीकार करना पड़े तो वह 'लीला' नहीं है। भगवान् की लीलाएँ तथा बद्धजीव द्वारा कर्मफल की स्वीकृति समान धरातल पर नहीं होतीं।

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम ।

ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

देवहूति: उवाच—देवहूति ने कहा; प्रकृतेः—शक्तियों का; पुरुषस्य—परम पुरुष की; अपि—भी; लक्षणम्—लक्षण; पुरुष-उत्तम—हे भगवान्; ब्रूहि—कहें; कारणयोः—कारण; अस्य—इस सृष्टि का; सत्-असत्—प्रकट तथा अप्रकट; च—तथा; यत्-आत्मकम्—जिससे युक्त।

देवहूति ने कहा : हे भगवान्, आप परम पुरुष तथा उनकी शक्तियों के लक्षण कहें, क्योंकि ये दोनों इस प्रकट तथा अप्रकट सृष्टि के कारण हैं।

तात्पर्य : प्रकृति का सम्बन्ध परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों से है, ठीक वैसे ही है जैसे कि स्त्री अपने पति से पत्नी के रूप में और बच्चों से माता के रूप में सम्बन्धित होती है। *भगवद्गीता* में भगवान् का कथन है कि वे माता प्रकृति के गर्भ में जीवात्मा रूप सन्तानों को प्रविष्ट कराते हैं और फिर जीवों की समस्त योनियाँ प्रकट होती हैं। प्रकृति के साथ समस्त जीवों के सम्बन्ध की व्याख्या की जा चुकी है। अब देवहूति प्रकृति तथा परमेश्वर के बीच जो सम्बन्ध पाया जाता है उसके विषय में पूछती हैं। इस सम्बन्ध का परिणाम (फल) प्रकट तथा अप्रकट जगत बताया गया है। अप्रकट जगत सूक्ष्म महत् तत्त्व है और इस महत् तत्त्व से दृश्य जगत प्रकट हुआ।

वैदिक साहित्य में बतलाया गया है कि परमेश्वर की दृष्टि डालने ही सारी भौतिक शक्ति प्रविष्ट हो जाती है और तब प्रकृति से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में भी पुष्टि की गई है कि उन्हीं की दृष्टि के अन्तर्गत-*अध्यक्षेण* अर्थात् उनके निर्देशन तथा उन्हीं की इच्छा से प्रकृति कार्य करती है। ऐसा नहीं कि प्रकृति मनमाने ढंग से कार्य करती है। प्रकृति के प्रसंग में बद्धजीवों की स्थिति को समझते हुए देवहूति ने जानना चाहा कि प्रकृति कैसे भगवान् के निर्देशन में कार्य करती है और प्रकृति तथा भगवान् के बीच कैसा सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने यह जानना चाहा कि प्रकृति के सन्दर्भ में भगवान् के गुण क्या हैं।

जीवात्मा का पदार्थ से और परमेश्वर का पदार्थ से जो सम्बन्ध है, वह समान स्तर पर नहीं है, भले ही मायावादी ऐसा कहते रहें। जब यह कहा जाता है कि जीवात्माएँ मोहग्रस्त होती हैं, तो मायावादी इस मोह को परमेश्वर पर आरोपित करते हैं। किन्तु ऐसा होता नहीं है। ईश्वर कभी मोहग्रस्त नहीं होते। सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों का यही अन्तर है। देवहूति अज्ञानी

नहीं हैं। वे इतना तो समझती ही थीं कि जीवात्माएँ परमेश्वर के समान स्तर पर नहीं हैं। अत्यन्त लघु होने के कारण जीवात्माएँ प्रकृति द्वारा मोहग्रस्त या बद्ध होती रहती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं है कि परमेश्वर भी बद्ध या मोहग्रस्त होता है। बद्धजीव तथा भगवान् के बीच का अन्तर यही है कि भगवान् प्रकृति के स्वामी हैं, अतः वे प्रकृति के वश में नहीं होते। वे न तो आध्यात्मिक प्रकृति के वशीभूत हैं, न ही भौतिक प्रकृति के। वे स्वयं परम नियन्ता हैं, उनकी तुलना सामान्य जीवों से नहीं की जा सकती जो प्रकृति के नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

इस श्लोक में *सत्* तथा *असत्* इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। दृश्य जगत असत् है यह विद्यमान नहीं है, किन्तु भगवान् की भौतिक शक्ति सत् अर्थात् चिर विद्यमान है। प्रकृति सूक्ष्म रूप में भगवान् की शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है, किन्तु कभी-कभी यह क्षणिक होती है। यहाँ पर माता तथा पिता का दृष्टान्त दिया जा सकता है माता तथा पिता दोनों का अस्तित्व है, किन्तु माता बच्चे उत्पन्न करती है। इसी प्रकार यह दृश्य जगत, जो परमेश्वर की अदृश्य प्रकृति से उत्पन्न है कभी प्रकट होता है और कभी अदृश्य हो जाता है। किन्तु प्रकृति सदैव रही आती है और भगवान् इस जगत के सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों ही स्वरूपों के परम कारण हैं।

श्रीभगवानुवाच

यत्तत्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।

प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; यत्—अब आगे; तत्—वह; त्रि-गुणम्—तीन गुणों का संयोग; अव्यक्तम्—अप्रकट; नित्यम्—शाश्वत; सत्-असत्-आत्मकम्—कार्य तथा कारण से युक्त; प्रधानम्—प्रधान; प्रकृतिम्—प्रकृति; प्राहुः—कहते हैं; अविशेषम्—जिसमें अन्तर न किया जा सके; विशेष-वत्—अन्तर से युक्त।

भगवान् ने कहा : तीनों गुणों का अप्रकट शाश्वत संयोग ही प्रकट अवस्था का कारण है और प्रधान कहलाता है। जब यह प्रकट अवस्था में होता है, तो इसे प्रकृति कहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् इंगित करते हैं कि प्रकृति सूक्ष्म अवस्था में होती है, जिसे प्रधान कहते हैं और वे इस प्रधान का विवेचन करते हैं। प्रधान एवं प्रकृति की व्याख्या यों है कि प्रधान

सूक्ष्म है, समस्त भौतिक तत्त्वों का निर्विशेष सार है। यद्यपि ये निर्विशेष हैं, किन्तु यह समझा जा सकता है कि उसमें सार तत्त्व निहित हैं। जब तीनों गुणों के द्वारा समस्त भौतिक तत्त्व प्रकट होते हैं, तो यही प्राकट्य प्रकृति कहलाती है। निराकारवादी कहते हैं कि ब्रह्म में कोई विविधता व भिन्नता नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रधान ब्रह्म-अवस्था है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रधान ब्रह्म से भिन्न है, क्योंकि ब्रह्म में प्रकृति के तीनों गुणों का अस्तित्व नहीं रहता। यह तर्क किया जा सकता है कि महत् तत्त्व भी प्रधान से भिन्न है, क्योंकि महत् तत्त्व में प्राकट्य होता है। किन्तु यहाँ प्रधान की वास्तविक व्याख्या दी गई है। जब कार्य-कारण स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होते (अव्यक्त) तो समस्त तत्त्वों में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और प्रकृति की इस अवस्था को प्रधान कहते हैं। प्रधान कालतत्त्व भी नहीं है, क्योंकि काल में कार्य-कारण, सृष्टि तथा प्रलय होते हैं। न तो यह जीव है, न उपाधिमय बद्धजीव है, क्योंकि जीवों की उपाधियाँ शाश्वत नहीं हैं। इस प्रसंग में *नित्य* विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, जो शाश्वतता का सूचक है। अतः अपने प्राकट्य के पूर्व प्रकृति की अवस्था प्रधान कहलाती है।

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।

एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥ ११ ॥

#### शब्दार्थ

पञ्चभिः—पाँच सहित ( स्थूल तत्त्व ); पञ्चभिः—पाँच ( सूक्ष्म तत्त्व ); ब्रह्म—ब्रह्म; चतुर्भिः—चार ( अन्तःकरण ); दशभिः—दस ( पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ ); तथा—उस प्रकार से; एतत्—यह; चतुः-विंशतिकम्—चौबीस तत्त्वों वाला; गणम्—समूह; प्राधानिकम्—प्रधान से युक्त; विदुः—जानते हैं।

पाँच स्थूल तत्त्व, पाँच सूक्ष्म तत्त्व, चार अन्तःकरण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ इन चौबीस तत्त्वों का यह समूह प्रधान कहलाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के अनुसार यहाँ पर वर्णित चौबीस तत्त्वों का समूह *योनिर्महद्ब्रह्म*

कहलाता है। सारे जीव इसी *योनिर्महद्ब्रह्म* में समाये हैं और वे विभिन्न रूपों में—ब्रह्म से लेकर चींटी तक में—उत्पन्न होते हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी चौबीस तत्त्वों का



यह समूह अथवा प्रधान योनिर्महद्ब्रह्म के रूप में वर्णित है; यह समस्त जीवों के जन्म तथा पालन का स्रोत है।

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।

तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥ १२ ॥

**शब्दार्थ**

महा-भूतानि—स्थूल तत्त्व; पञ्च—पाँच; एव—ठीक-ठीक; भूः—पृथ्वी; आपः—जल; अग्निः—अग्नि; मरुत्—वायु; नभः—आकाश; तत्-मात्राणि—सूक्ष्म तत्त्व; च—तथा; तावन्ति—इतने सारे; गन्ध-आदीनि—गंध इत्यादि ( स्वाद, रंग, स्पर्श तथा ध्वनि ); मतानि—माने जाते हैं; मे—मेरे द्वारा।

पाँच स्थूल तत्त्वों के नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ( शून्य )। सूक्ष्म तत्त्व भी पाँच हैं—गंध, स्वाद, रंग, स्पर्श तथा शब्द ( ध्वनि )।

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृशसननासिकाः ।

वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥ १३ ॥

**शब्दार्थ**

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; दश—दस; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; दृक्—दृष्टि की इन्द्रिय; रसन—स्वाद की इन्द्रिय; नासिकाः—गन्ध की इन्द्रिय; वाक्—वाणी की इन्द्रिय; करौ—दो हाथ; चरणौ—चलने की इन्द्रियाँ ( पाँव ); मेढ्रम्—जननेन्द्रिय; पायुः—मलत्याग की इन्द्रिय; दशमः—दसवीं; उच्यते—कहलाती है।

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को मिलाकर इनकी संख्या दस है। ये हैं—श्रवणेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, दृश्येन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, वागेन्द्रिय, कार्य करने की इन्द्रियाँ, चलने की इन्द्रियाँ, जननेन्द्रियाँ तथा मलत्याग इन्द्रियाँ।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।

चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥ १४ ॥

**शब्दार्थ**

मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; अहङ्कारः—अहंकार; चित्तम्—चेतना; इति—इस प्रकार; अन्तः-आत्मकम्—आन्तरिक सूक्ष्म इन्द्रियाँ; चतुः-धा—चार प्रकार की; लक्ष्यते—देखी जाती हैं; भेदः—अन्तर; वृत्त्या—अपने कार्यों से; लक्षण-रूपया—विभिन्न लक्षणों द्वारा।

आन्तरिक सूक्ष्म इन्द्रियाँ मन, बुद्धि, अहंकार तथा कलुषित चेतना के रूप में चार प्रकार की जानी जाती हैं। उनके विभिन्न कार्यों के अनुसार ही इनमें भेद किया जा सकता है क्योंकि ये विभिन्न लक्षणों को बताने वाली हैं।

**तात्पर्य :** चार आन्तरिक या सूक्ष्म इन्द्रियाँ, जिनका यहाँ पर वर्णन हुआ है वे अपने विभिन्न लक्षणों से परिभाषित की जाती हैं। जब शुद्ध चेतना भौतिक कल्मष से दूषित हो जाती है और देहात्मबुद्धि प्रधान हो तो कहा जाता है कि मनुष्य अहंकार के वशीभूत है। चेतना आत्मा का कर्म है, अतः चेतना के पीछे आत्मा रहता है। भौतिक कल्मष से दूषित चेतना अहंकार कहलाती है।

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह ।  
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ॥ १५ ॥

**शब्दार्थ**

एतावान्—इतना; एव—ही; सङ्ख्यातः—गिनाया गया; ब्रह्मणः—ब्रह्म का; स-गुणस्य—भौतिक गुणों से युक्त; ह—निस्सन्देह; सन्निवेशः—प्रबन्ध; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्तः—कहा गया; यः—जो; कालः—समय; पञ्च-विंशकः—पच्चीसवाँ।

इन सबको सुयोग्य ब्रह्म माना जाता है। इन सबको मिलाने वाला तत्त्व काल है, जिसे पच्चीसवें तत्त्व के रूप में गिना जाता है।

**तात्पर्य :** वैदिक कथन के अनुसार ब्रह्म के परे कोई अस्तित्व नहीं है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म* (छान्दोग्य उपनिषद् ३.१४.१)। *विष्णु-पुराण* में भी कहा गया है कि जो कुछ हम देखते हैं वह *परस्य ब्रह्मणः शक्तिः*—प्रत्येक वस्तु परम सत्य ब्रह्म के विस्तार की शक्ति है। जब ब्रह्म को सतो, रजो तथा तमो गुणों के साथ मिला दिया जाता है, तो भौतिक विस्तार होता है, जिसे कभी-कभी *सगुण* ब्रह्म कहते हैं जिसमें ये पच्चीसों तत्त्व रहते हैं। *निर्गुण* ब्रह्म में कोई भौतिक कल्मष नहीं रहता अथवा आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) में सतो, रजो तथा तमो—ये तीनों गुण नहीं रहते। जहाँ *निर्गुण* ब्रह्म विद्यमान रहता है, वहाँ शुद्ध सत्त्व पाया जाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार *सगुण* ब्रह्म में पच्चीस तत्त्व सम्मिलित हैं जिनमें काल (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) भी है।

प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम् ।  
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः ॥ १६ ॥

**शब्दार्थ**

प्रभावम्—प्रभाव; पौरुषम्—भगवान् का; प्राहुः—कहा गया है; कालम्—काल; एके—कुछ; यतः—जिससे; भयम्—भय; अहङ्कार-विमूढस्य—अहंकार से विमूढ़; कर्तुः—आत्मा का; प्रकृतिम्—प्रकृति को; ईयुषः—स्पर्श करके।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का प्रभाव काल में अनुभव किया जाता है, क्योंकि यह भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में आने वाले मोहित आत्मा के अहंकार के कारण मृत्यु का भय उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : जीव को मृत्यु का भय उसमें देहात्मबोध के कारण अहंकार की उत्पत्ति से होता है। हर कोई मृत्यु से भयभीत रहता है वास्तव में आत्मा की मृत्यु नहीं होती, किन्तु देहात्मबोध के कारण मृत्यु-भय उत्पन्न होता है। श्रीमद्भागवत (११.२.३७) में कहा गया है— भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्। द्वितीय का अर्थ है भौतिक पदार्थ, जो आत्मा के परे है। पदार्थ आत्मा का गौण प्राकट्य है, क्योंकि पदार्थ आत्मा से प्रसूत है। जिस प्रकार यहाँ पर वर्णित भौतिक तत्त्व परमेश्वर या परमात्मा द्वारा उत्पन्न हैं उसी प्रकार शरीर भी आत्मा की उपज है। इसीलिए शरीर को द्वितीय कहा गया है। जब मनुष्य इस द्वितीय तत्त्व या आत्मा के द्वितीय प्रदर्शन में तल्लीन रहता है, तो वह मृत्यु से भयभीत रहता है। जब उसे यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह अपना शरीर नहीं है, तो मृत्यु से डरने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि आत्मा कभी मरता नहीं।

यदि आत्मा भक्ति के आध्यात्मिक कर्म में लग जाता है, तो वह जन्म तथा मृत्यु से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। उसकी अगली स्थिति देह से पूर्ण विमुक्ति होती है। मृत्यु-भय काल का प्रभाव है, जो परमेश्वर के प्रभाव का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, काल विध्वंसक है। काल भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है और यह हमें इसका भी स्मरण कराता है कि हम ईश्वर की शरण ग्रहण करें। ईश्वर हर बद्धजीव से काल के रूप में बातें करते हैं। भगवान् भगवद्गीता में कहते हैं कि यदि कोई मेरी शरण में आ जाता है, तो फिर जन्म तथा मृत्यु की कोई समस्या नहीं रह जाती। अतः हमें काल को अपने समक्ष खड़े हुए भगवान् के रूप में मानना चाहिए। इसकी विशद व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।

चेष्टा यतः स भगवान्काल इत्युपलक्षितः ॥ १७ ॥

### शब्दार्थ

प्रकृतेः—प्रकृति का; गुण-साम्यस्य—तीनों गुणों की क्रिया के बिना; निर्विशेषस्य—विशिष्ट गुणों से रहित;  
मानवि—हे मनु पुत्री; चेष्टा—गति; यतः—जिससे; सः—वह; भगवान्—श्रीभगवान्; कालः—समय, काल; इति—  
इस प्रकार; उपलक्षितः—नाम रखा जाता है।

हे स्वायंभुव-पुत्री, हे माता, जैसा कि मैंने बतलाया काल ही श्रीभगवान् है, जिससे उदासीन ( समभाव ) एवं अप्रकट प्रकृति के गतिमान होने से सृष्टि प्रारम्भ होती है।

तात्पर्य : प्रकृति की अप्रकट अवस्था, प्रधान, की व्याख्या की जा रही है। भगवान् कहते हैं कि जब भगवान् को दृष्टि से यह अप्रकट प्रकृति विक्षुब्ध होती है, तो यह नाना प्रकार से अपने को प्रकट करती है। इस विक्षुब्धावस्था के पूर्व वह निष्क्रिय पड़ी रहती है, उसमें प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा कोई अन्तःक्रिया नहीं होती। दूसरे शब्दों में, भगवान् का सम्पर्क पाये बिना प्रकृति किसी प्रकार का प्राकट्य नहीं कर सकती। *भगवद्गीता* में इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। श्रीभगवान् प्रकृति के उत्पादों के कारण हैं। उनके सम्पर्क के बिना प्रकृति कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती।

इस प्रसंग में *चैतन्य-चरितामृत* में एक अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण मिलता है। यद्यपि बकरी के गलस्तन स्तनों जैसे ही प्रतीत होते हैं, किन्तु उनसे दूध नहीं निकलता। इसी प्रकार भौतिक विज्ञानी को यह प्रकृति आश्चर्यजनक ढंग से क्रिया-प्रतिक्रिया करती प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में उत्प्रेरक अर्थात् भगवान् के प्रतिनिधि स्वरूप, काल, के बिना यह कार्य नहीं कर सकती। काल प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था (साम्यावस्था) को विक्षुब्ध करता है, जिससे प्रकृति नाना प्रकार से प्रकट होने लगती है। अन्ततः यह कहा जाता है कि भगवान् ही सृष्टि के कारण हैं। जिस प्रकार पुरुष से गर्भधारण किये बिना कोई स्त्री सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती उसी प्रकार यह प्रकृति काल रूप भगवान् से गर्भाधान किये बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती।

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।

समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥ १८ ॥

### शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; पुरुष-रूपेण—परमात्मा के रूप में; काल-रूपेण—काल के रूप में; यः—वह जो; बहिः—बाहर; समन्वेति—विद्यमान है; एषः—वह; सत्त्वानाम्—समस्त जीवों का; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—अपनी शक्तियों द्वारा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करते हुए अपने आपको भीतर से परमात्मा रूप में और बाहर काल-रूप में रखकर विभिन्न तत्त्वों का समन्वयन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह कहा गया है कि हृदय के भीतर भगवान् परमात्मा-रूप में निवास करते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसी अवस्था का वर्णन हुआ है—परमात्मा व्यष्टि आत्मा के ही निकट निवास करता है और साक्षी रूप में कार्य करता है। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी इसकी पुष्टि की गई है—दो पक्षी शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं—एक साक्षी स्वरूप है और दूसरा वृक्ष के फलों को खा रहा है। यह पुरुष या परमात्मा, जो प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर निवास करता है उसे *भगवद्गीता* (१३.२३) में उपद्रष्टा या साक्षी तथा अनुमन्ता या अधिकार प्रदान करने वाला कहा गया है। बद्धजीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति की व्यवस्था से उसे मिले है, शरीर विशेष के सुख-दुख में लगा रहता है। किन्तु परमात्मा या परम पुरुष बद्धजीव से भिन्न है। उसे *भगवद्गीता* में महेश्वर कहा गया है, वह परमात्मा है, जीवात्मा नहीं। परमात्मा का अर्थ है, जो बद्धजीव के पास बैठा हुआ है और उसे कर्म के लिए स्वीकृति प्रदान करने वाला है। बद्धजीव इस संसार में प्रकृति को भोगने के लिए आता है। चूँकि कोई भी परमेश्वर की अनुमति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता, अतः परमेश्वर जीवात्मा के साथ साक्षी तथा अनुमतिप्रदाता के रूप में रहता है। वह भोक्ता भी है, क्योंकि वह बद्धजीव का पालन करता है और उसे आश्रय प्रदान करता है।

चूँकि जीवात्मा स्वाभाविक रूप से भगवान् का ही भिन्नांश है, अतः भगवान् उस पर अत्यन्त वत्सल रहते हैं। दुर्भाग्यवश जब जीवात्मा बहिरंगा शक्ति के द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है, तो वह भगवान् के प्रति अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है, किन्तु अपनी स्वाभाविक

स्थिति का ज्ञान होते ही वह मुक्त हो जाता है। बद्धजीव की अत्यल्प स्वच्छंदता उसकी रटस्था स्थिति के द्वारा प्रदर्शित होती है, चाहे तो वह भगवान् को भुला सकता है और इस संसार में प्रकृति को भोगने का अहंकार कर सकता है, किन्तु चाहे तो वह भगवान् की सेवा की ओर मुड़ सकता है। व्यष्टि जीवात्मा को इतनी स्वतन्त्रता (छूट) प्राप्त है। ज्योंही वह भगवान् की ओर उन्मुख होता है कि उसका बद्ध जीवन समाप्त हो जाता है और जीवन सफल हो जाता है, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से वह संसार में प्रविष्ट होता है। फिर भी भगवान् परमात्मा रूप में इतना दयालु हैं कि सदैव बद्धजीव के साथ ही बने रहते हैं। भगवान् का कार्य भौतिक देह से न तो सुख लेना है, न ही कष्ट उठाना। वह जीव के साथ मात्र अनुमतिदाता तथा साक्षी रूप में बने रहते हैं जिससे जीवात्मा को अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिल सके।

बद्धजीव के शरीर के बाहर भगवान् काल रूप में बने रहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार पच्चीस तत्त्व हैं। पहले से वर्णित चौबीस तत्त्व तथा काल मिलाकर पच्चीस तत्त्व होते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार परमात्मा को सम्मिलित कर लेने पर तत्त्वों की कुल संख्या छब्बीस हो जाती है।

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।  
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

दैवात्—जीवों के भाग्य से; क्षुभित—क्षुब्ध; धर्मिण्याम्—जिसका गुण साम्य; स्वस्याम्—निजी, अपना; योनौ—गर्भ (प्रकृति) में; परः पुमान्—परमात्मा; आधत्त—धारण किया हुआ; वीर्यम्—वीर्य (अन्तरंगा शक्ति); सा—उस (प्रकृति) ने; असूत—उत्पन्न किया; महत्-तत्त्वम्—समग्र विराट बुद्धि; हिरण्मयम्—हिरण्मय नामक।

जब भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकृति में व्याप्त होते हैं, तो प्रकृति समग्र विराट बुद्धि को उत्पन्न करती है, जिसे हिरण्मय कहते हैं। यह तब घटित होता है जब प्रकृति बद्धजीवों के गन्तव्यों द्वारा क्षुब्ध की जाती है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१४.३) में प्रकृति के इस गर्भाधान का वर्णन है। प्रकृति का मुख्य कारक महत् तत्त्व या समस्त विविधताओं के प्रजनन का स्रोत है। प्रकृति का यह अंश, जो प्रधान के साथ ही साथ ब्रह्म भी कहलाता है उसमें श्रीभगवान् द्वारा वीर्य स्थापित (गर्भाधान)

किया जाता है, जिससे नाना प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रसंग में प्रकृति को ब्रह्म कहा गया है, क्योंकि यह आध्यात्मिक प्रकृति का विकृत प्रतिबिम्ब है।

विष्णु-पुराण में वर्णन आया है कि जीवात्माएँ आध्यात्मिक प्रकृति से सम्बन्धित होती हैं। भगवान् की शक्ति आध्यात्मिक है और यद्यपि जीवात्माएँ तटस्था शक्ति कहलाती हैं, किन्तु साथ ही वे आध्यात्मिक होती हैं। यदि जीवात्माएँ आध्यात्मिक न होतीं तो परमेश्वर द्वारा गर्भाधान लागू न होता। जो आध्यात्मिक नहीं है उसमें परमेश्वर अपना वीर्य स्थापित नहीं करते, किन्तु यहाँ उल्लेख है कि वे प्रकृति में वीर्य स्थापित करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वभावतः जीवात्माएँ आध्यात्मिक हैं। गर्भाधान के बाद प्रकृति समस्त प्रकार के जीवों को उत्पन्न करती है जिसमें महानतम जीव ब्रह्माजी से लेकर एक लघु चींटी तक विभिन्न प्रकार के जीव होते हैं। भगवद्गीता (१४.४) में प्रकृति को स्पष्ट रूप से सर्वयोनिषु कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त योनियों—देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा हिंस्र जीव (जो भी प्रकट हैं) की माता प्रकृति है और भगवान् वीर्यदाता पिता हैं। सामान्य अनुभव यह है कि पिता ही सन्तान को जीवन देता है, किन्तु माता तो उसे शरीर देती है। यद्यपि जीवन का वीर्यदाता पिता है, किन्तु शरीर तो माता के गर्भ में बढ़ता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवात्माएँ प्रकृति के गर्भ में स्थापित की जाती हैं, किन्तु शरीर प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है और वह विभिन्न योनियाँ एवं रूप धारण करता है। यहाँ पर इस सिद्धान्त को समर्थन नहीं मिलता कि जीवन के लक्षण चौबीस तत्त्वों की अन्तःक्रिया से प्रकट होते हैं। जीवनी शक्ति सीधे भगवान् से मिलती है और पूर्णतया आध्यात्मिक होती है। अतः किसी भी प्रकार की भौतिक वैज्ञानिक प्रगति जीवन को उत्पन्न नहीं कर सकती। जीवनी शक्ति आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) से आती है, भौतिक तत्त्वों की अन्तःक्रिया से उसका कोई सरोकार नहीं होता।

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन्कूटस्थो जगदङ्कुरः ।

स्वतेजसापिबत्तीब्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विश्वम्—ब्रह्माण्ड; आत्म-गतम्—अपने में सन्निहित; व्यञ्जन्—प्रकट करते हुए; कूट-स्थः—अपरिवर्तनीय; जगत्-अङ्कुरः—समस्त दृश्य जगत का मूल; स्व-तेजसा—अपने ही तेज से; अपिबत्—पी लिया; तीव्रम्—घना; आत्म-प्रस्वापनम्—जिसने महत् तत्त्व को आवृत कर रखा था; तमः—अंधकार।

इस प्रकार तेजस्वी महत् तत्त्व, जिसके भीतर सारे ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं, जो समस्त दृश्य जगत का मूल है और जो प्रलय के समय भी नष्ट नहीं होता, अपनी विविधता प्रकट करके उस अंधकार को निगल जाता है, जिसने प्रलय के समय तेज को ढक लिया था।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वव्यापी, समस्त वरदायक तथा ज्ञान से पूर्ण हैं अतः उनकी विभिन्न शक्तियाँ सुप्तावस्था में भी सदैव विद्यमान रहती हैं। अतः जब महत् तत्त्व की उत्पत्ति की गई तो इससे भौतिक अहंकार उत्पन्न हुआ और इसने दृश्य जगत में व्याप्त प्रलयकालीन अंधकार को निगल लिया। इस विचार की और भी व्याख्या की जा सकती है। रात्रि में मनुष्य रात्रि के अन्धकार से आवृत होकर निष्क्रिय रहता है, किन्तु जब प्रातःकाल उसे जगाया जाता है, तो रात्रि का आवरण या सुप्तावस्था की विस्मृति लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार जब प्रलयकालीन रात्रि के बाद महत् तत्त्व प्रकट होता है, तो तेज प्रकट होता है, जिससे इस जगत की विविधता दृष्टिगोचर होती है।

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।

यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वह; सत्त्व-गुणम्—सतोगुण; स्वच्छम्—साफ; शान्तम्—शान्त; भगवतः—भगवान् का; पदम्—ज्ञान का पद; यत्—जो; आहुः—कहलाता है; वासुदेव-आख्यम्—वासुदेव के नाम से; चित्तम्—चेतना; तत्—वह; महत्-आत्मकम्—महत् तत्त्व में प्रकट।

सतोगुण, जो भगवान् के ज्ञान की स्वच्छ, सौम्य अवस्था है और जो सामान्यतः वासुदेव या चेतना कहलाता है, महत् तत्त्व में प्रकट होता है।

तात्पर्य : वासुदेव प्राकट्य अथवा भगवान् के ज्ञान की अवस्था शुद्ध-सत्त्व कहलाती है। शुद्ध-सत्त्व अवस्था में अन्य गुणों—यथा रजो तथा तमो गुणों का उल्लंघन नहीं होता। वैदिक ग्रन्थों में भगवान् का विस्तार चार पुरुषों में बताया गया है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। यहाँ पर महत् तत्त्व के प्राकट्य में भगवान् के चारों विस्तार रहते हैं। इनमें से जो



परमात्मा के रूप में भीतर स्थित है, वह सबसे पहले वासुदेव के रूप में विस्तार करता है।

वासुदेव अवस्था भौतिक इच्छाओं के उल्लंघन से मुक्त है और यह वह अवस्था है, जिसमें कोई भी श्रीभगवान् को या वह लक्ष्य जिसे *भगवद्गीता* में *अद्भुत* कहा गया है उसे समझ सकता है। महत् तत्त्व का यह अन्य लक्षण है। वासुदेव विस्तार को कृष्णचेतना (भावनामृत) भी कहते हैं, क्योंकि यह काम तथा अज्ञान के सारे रंगों से मुक्त होता है। ज्ञान की यह शुद्ध अवस्था भगवान् को समझने में सहायक होती है। *भगवद्गीता* में वासुदेव अवस्था को क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है, जो कर्मक्षेत्र के ज्ञाता तथा परम ज्ञाता का बोध करने वाला है। जीव जो विशिष्ट प्रकार का शरीर धारण करता है उसे वह जानता है, किन्तु परम ज्ञाता वासुदेव न केवल विशेष प्रकार के शरीर को ही, अपितु विभिन्न प्रकार के शरीरों के कर्मक्षेत्र को भी जानता है। स्वच्छ चेतना या कृष्णचेतना प्राप्त करने के लिए मनुष्य को वासुदेव की पूजा करनी होती है। वासुदेव एकाकी कृष्ण ही हैं। जब कृष्ण या विष्णु अकेले होते हैं, उनके साथ उनकी अन्तरंगा शक्ति नहीं रहती, तो वे वासुदेव होते हैं। किन्तु जब वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के साथ होते हैं, तो 'द्वारकाधीश' कहलाते हैं। शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना पाने के लिए मनुष्य को वासुदेव की पूजा करनी होती है। *भगवद्गीता* में इसका भी उल्लेख है कि अनेकानेक जन्मों के बाद मनुष्य वासुदेव की शरण में जाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त विरल है।

मिथ्या अहंकार से मुक्ति पाने के लिए संकर्षण की पूजा करनी होती है। संकर्षण की पूजा शिवजी के माध्यम से भी की जाती है। शिवजी के शरीर में लिपटे रहने वाले सर्प संकर्षण के ही रूप हैं और शिवजी सदैव संकर्षण के ध्यान में तल्लीन रहते हैं। जो कोई संकर्षण के ही भक्त रूप में शिवजी की पूजा करता है, वह अहंकार से मुक्त हो सकता है। यदि कोई मानसिक उद्विग्नताओं से मुक्ति चाहता है, तो उसे अनिरुद्ध की पूजा करनी होती है। वैदिक साहित्य में इसके लिए चन्द्रमा की पूजा की भी संस्तुति की गई है। इसी प्रकार अपनी बुद्धि में स्थित रहने के लिए मनुष्य को प्रद्युम्न की पूजा करनी होती है जिन्हें ब्रह्मा की पूजा द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। ये बातें वैदिक ग्रन्थों में बताई गई हैं।

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।

वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥ २२ ॥

**शब्दार्थ**

स्वच्छत्वम्—स्वच्छत्व; अविकारित्वम्—विकारों से मुक्ति; शान्तत्वम्—शान्तत्व; इति—इस प्रकार; चेतसः—चेतना का; वृत्तिभिः—गुणों के द्वारा; लक्षणम्—लक्षण; प्रोक्तम्—कहा जाता है; यथा—जिस तरह; अपाम्—जल की; प्रकृतिः—स्वाभाविक अवस्था; परा—शुद्ध।

महत्-तत्त्व के प्रकट होने के बाद ये वृत्तियाँ एकसाथ प्रकट होती हैं। जिस प्रकार जल पृथ्वी के संसर्ग में आने के पूर्व अपनी स्वाभाविक अवस्था में स्वच्छ, मीठा तथा शान्त रहता है उसी तरह विशुद्ध चेतना के विशिष्ट लक्षण शान्तत्व, स्वच्छत्व तथा अविकारित्व हैं।

तात्पर्य : प्रारम्भ में शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना की अवस्था रहती है। सृष्टि के तुरन्त बाद चेतना कलुषित नहीं होती। किन्तु मनुष्य भौतिक रूप से जितना कल्मषग्रस्त होता जाता है उसकी चेतना उतनी ही मलिन होती जाती है। शुद्ध चेतना होने पर भगवान् की किंचित झलक भी दिख जाती है। जिस प्रकार स्वच्छ, शान्त, अशुद्धियों से रहित जल में हर वस्तु साफ-साफ दिखती है उसी तरह शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना में वस्तुएँ अपने वास्तविक रूप में दिखती हैं। मनुष्य भगवान् की झलक देख सकता है और अपने अस्तित्व को भी देख सकता है। चेतना की यह अवस्था अत्यन्त सुहावनी, पारदर्शी तथा शान्त होती है। प्रारम्भ में चेतना शुद्ध रहती है।

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् ।

क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥ २३ ॥

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।

मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥ २४ ॥

**शब्दार्थ**

महत्-तत्त्वात्—महत् तत्त्व से; विकुर्वाणात्—विकृत होने से; भगवत्-वीर्य-सम्भवात्—भगवान् की निजी शक्ति से उत्पन्न; क्रिया-शक्तिः—सक्रिय शक्ति से युत; अहङ्कारः—अहंकार; त्रि-विधः—तीन प्रकार का; समपद्यत—उत्पन्न हुआ; वैकारिकः—रूपान्तरित सतोगुण में अहंकार; तैजसः—रजोगुण में अहंकार; च—तथा; तामसः—तमोगुण में

अहंकार; च—भी; यतः—जिससे; भवः—उत्पत्ति; मनसः—मन का; च—तथा; इन्द्रियाणाम्—ज्ञान तथा कर्म की इन्द्रियों का; च—तथा; भूतानाम् महताम्—पाँच स्थूल तत्त्वों का; अपि—भी।

महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है, जो भगवान् की निजी शक्ति से उद्भूत है। अहंकार में मुख्य रूप से तीन प्रकार की क्रियाशक्तियाँ होती हैं—सत्त्व, रज तथा तम। इन्हीं तीन प्रकार के अहंकार से मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा स्थूल तत्त्व उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : प्रारम्भ में चेतना या शुद्ध कृष्णचेतनावस्था से पहला कल्मष उत्पन्न हुआ। यह मिथ्या अहंकार या देहात्मबोध कहलाया। जीवात्मा स्वाभाविक स्थिति में कृष्णचेतना की अवस्था में रहता है, किन्तु उसे थोड़ी सी छूट (स्वाधीनता) प्राप्त रहती है, जिससे उसे कृष्ण की विस्मृति हो जाती है। प्रारम्भ में शुद्ध कृष्णचेतना रहती है, किन्तु इस अत्यल्प स्वाधीनता के दुरुपयोग से कृष्ण के भूलने की सम्भावना बनी रहती है। वास्तविक जीवन में ऐसा दिखलाई पड़ता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें कोई कृष्णभावनामृत में कर्म करते हुए सहसा बदल जाता है। इसीलिए उपनिषदों का कथन है कि आत्म-साक्षात्कार का मार्ग छूरे की तेज धार के समान है। यह उदाहरण अत्यन्त सटीक है। तेज छूरे से दाढ़ी अच्छी बनती है, किन्तु जरा भी ध्यान इधर-उधर हुआ नहीं कि गाल कट जाता है।

मनुष्य को न केवल शुद्ध कृष्णचेतना तक पहुँचना है, अपितु उसे अत्यन्त सतर्क भी रहना है। तनिक भी असावधानी से पतन हो सकता है। इस पतन का कारण अहंकार होता है। शुद्ध चेतना की दशा से अहंकार का जन्म स्वाधीनता के दुरुपयोग से होता है। हम यह तर्क नहीं कर सकते कि शुद्ध चेतना से किस प्रकार अहंकार का उदय होता है। वास्तविकता तो यह है कि ऐसा होने की सदैव सम्भावना रहती है, अतः मनुष्य को सदैव सतर्क रहना होता है। समस्त भौतिक कार्य-कलापों का मूल सिद्धान्त अहंकार है। ये कार्य भौतिक गुणों में सम्पन्न होते हैं। ज्योंही मनुष्य शुद्ध कृष्णचेतना से विचलित होता है कि भौतिक कार्यों में वह उलझता जाता है। भौतिकवाद का बन्धन मन है और इस मन से इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं।

सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते ।

सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥ २५ ॥

**शब्दार्थ**

सहस्र-शिरसम्—एक हजार शिरों वाला; साक्षात्—प्रकट रूप में; यम्—जिसको; अनन्तम्—अनन्त; प्रचक्षते—कहते हैं; सङ्कर्षण-आख्यम्—संकर्षण नाम से; पुरुषम्—श्रीभगवान्; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः-मयम्—मन से युक्त।

स्थूल तत्त्वों का स्रोत, इन्द्रियाँ तथा मन—ये ही तीन प्रकार के अहंकार उनसे अमिन्त हैं, क्योंकि अहंकार ही उनका कारण है। यह संकर्षण के नाम से जाना जाता है, जो कि एक हजार शिरों वाले साक्षात् भगवान् अनन्त हैं।

कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।

शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहङ्कृतेः ॥ २६ ॥

**शब्दार्थ**

कर्तृत्वम्—कर्ता होने; करणत्वम्—कारण होना; च—तथा; कार्यत्वम्—प्रभाव होना; च—भी; इति—इस प्रकार; लक्षणम्—लक्षण; शान्त—शान्त; घोर—सक्रिय; विमूढत्वम्—मन्द या बुद्ध होना; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; स्यात्—होवे; अहङ्कृतेः—अहंकार।

यह अहंकार कर्ता, करण ( साधन ) तथा कार्य ( प्रभाव ) के लक्षणों वाला होता है। सतो, रजो तथा तमो गुणों के द्वारा यह जिस प्रकार प्रभावित होता है उसी के अनुसार यह शान्त, क्रियावान या मन्द लक्षण वाला माना जाता है।

तात्पर्य : अहंकार भौतिक व्यापारों के अधिष्ठाता देवताओं में रूपान्तरित हो जाता है। करण के रूप में अहंकार विभिन्न इन्द्रियों के रूप में प्रदर्शित होता है और देवताओं तथा इन्द्रियों के संयोग से भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस जगत में हम अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर रहे हैं, जिसे सभ्यता की उन्नति कहते हैं, किन्तु वास्तव में सभ्यता की उन्नति अहंकार का प्रकाशन है। अहंकार से ही सारी वस्तुएँ सुखोपभोग की सामग्रियों के रूप में उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को इन सामग्रियों की कृत्रिम आवश्यकता को कम करना होता है। महान् आचार्य नरोत्तमदास ठाकुर ने शोक प्रकट किया है कि जब मनुष्य वासुदेव की शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना से विपथ होता है, तो वह भौतिक कर्मों में बँध जाता है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द इस प्रकार हैं—सत्संग छाडि' कैनु असते विलास ते-कारणे लागिल ये कर्म-बन्ध-फाँस—“मैं क्षणिक भौतिक संसार का आनन्द उठाना चाहता था इसलिए मैंने शुद्ध चेतना की अवस्था का परित्याग कर दिया; इसलिए मैं कर्म-फल के जाल में फँस गया हूँ।”

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।

यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

वैकारिकात्—सत्व के अहंकार से; विकुर्वाणात्—विकृत होने से; मनः—मन; तत्त्वम्—नियम; अजायत—उत्पन्न हुआ; यत्—जिसके; सङ्कल्प—विचार; विकल्पाभ्याम्—तथा विकल्पों से; वर्तते—घटित होता है; काम-सम्भवः—इच्छा का उदय।

सत्त्व के अहंकार से दूसरा विकार आता है। इससे मन उत्पन्न होता है, जिसके संकल्पों तथा विकल्पों से इच्छा का उदय होता है।

तात्पर्य : मन के लक्षण हैं संकल्प तथा विकल्प जो विभिन्न प्रकार की इच्छाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। जो हमें इन्द्रियतृप्ति के अनुकूल लगता है, हम उसी की कामना करते हैं और जो प्रतिकूल लगता है उसका बहिष्कार करते हैं। हमारा मन स्थिर नहीं रहता, किन्तु यदि कृष्णचेतना (भक्ति) के कार्यों में लगा दिया जाय तो वही मन स्थिर हो जाता है। अन्यथा जब तक मन भौतिक अवस्था में रहता है, तो यह डाँवाडोल होता रहता है और यह सारा संकल्प-विकल्प असत् अथवा नाशवान होता है। यह कहा गया है कि जिसका मन कृष्णचेतना में स्थिर नहीं है, वह संकल्प तथा विकल्प के बीच झूलता रहता है। कोई व्यक्ति शैक्षिक योग्यता में कितना ही अग्रसर क्यों न हो, जब तक वह कृष्णचेतना में स्थिर नहीं होता तब तक वह संकल्प-विकल्प करेगा और किसी भी विषय में मन को स्थिर नहीं कर पाएगा।

यद्विदुर्हानिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् ।

शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

यत्—जो मन; विदुः—जाना जाता है; हि—निस्सन्देह; अनिरुद्ध-आख्यम्—अनिरुद्ध के नाम से; हृषीकाणाम्—इन्द्रियों का; अधीश्वरम्—परम शासक; शारद—शरदकालीन; इन्दीवर—नील, कमल के समान; श्यामम्—नीला; संराध्यम्—जो पाया जाता है; योगिभिः—योगियों के द्वारा; शनैः—धीरे-धीरे।

जीवात्मा का मन इन्द्रियों के परम अधिष्ठाता अनिरुद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। उसका नील-श्याम शरीर शरदकालीन कमल के समान है। योगीजन उसे शनै-शनै प्राप्त करते हैं।

**तात्पर्य :** योगक्रिया में मन को नियन्त्रित किया जाता है और मन के स्वामी अनिरुद्ध हैं। बताया गया है कि अनिरुद्ध के चार भुजाएँ हैं जिनमें वे सुदर्शन चक्र, शंख, गदा तथा कमल-पुष्प धारण किये रहते हैं। विष्णु के चौबीस रूप हैं और हरएक का नाम भिन्न है। इन चौबीस रूपों में से संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा वासुदेव रूपों का अतीव सुन्दर चित्रण *चैतन्य-चरितामृत* में मिलता है जहाँ यह बताया गया है कि अनिरुद्ध योगियों द्वारा पूजित हैं। शून्य का ध्यान कुछ चिन्तकों के उर्वर मस्तिष्क की अर्वाचीन आविष्कार है। जैसाकि इस श्लोक में संस्तुति की गई है, वास्तव में योग-ध्यान की क्रिया अनिरुद्ध के स्वरूप में स्थिर की जानी चाहिए। अनिरुद्ध का ध्यान धरने से मनुष्य संकल्प तथा विकल्प से मुक्त हो सकता है। जब मनुष्य का मन अनिरुद्ध में स्थिर हो जाता है, तो वह क्रमशः ईश्वर-सिद्ध हो जाता है; उसे शुद्ध कृष्णचेतना का पद प्राप्त हो जाता है, जो योग का चरम लक्ष्य है।

तैजसात्तु विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।

द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९ ॥

#### शब्दार्थ

तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; तु—तब; विकुर्वाणात्—विकार होने से; बुद्धि—बुद्धि; तत्त्वम्—तत्त्व; अभूत्—जन्म लिया; सति—हे सती; द्रव्य—पदार्थ; स्फुरण—दिखाई पड़ने पर; विज्ञानम्—निश्चित करते हुए; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की; अनुग्रहः—सहायता करना।

हे सती, रजोगुणी अहंकार में विकार होने से बुद्धि का जन्म होता है। बुद्धि के कार्य हैं दिखाई पड़ने पर पदार्थों की प्रकृति के निर्धारण में सहायता करना और इन्द्रियों की सहायता करना।

**तात्पर्य :** बुद्धि वह विवेक शक्ति है, जिससे किसी पदार्थ को जाना जा सके और इन्द्रियों को चयन करने में सहायता मिले। इसीलिए बुद्धि को इन्द्रियों का स्वामी माना जाता है। बुद्धि को पूर्णता तब मिलती है जब वह कृष्णभक्ति के कार्यकलापों में स्थिर हो जाती है। बुद्धि के समुचित प्रयोग से मनुष्य की चेतना का विस्तार होता है और चेतना का चरम विस्तार कृष्णभक्ति है।

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।

स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक् ॥ ३० ॥

### शब्दार्थ

संशयः—सन्देह; अथ—तब; विपर्यासः—विपरीत ज्ञान; निश्चयः—सही ज्ञान; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; एव—भी;  
च—तथा; स्वापः—निद्रा; इति—इस प्रकार; उच्यते—कहे जाते हैं; बुद्धेः—बुद्धि के; लक्षणम्—लक्षण; वृत्तितः—  
अपने कार्यों से; पृथक्—भिन्न।

सन्देह, विपरीत ज्ञान, सही ज्ञान, स्मृति तथा निद्रा, ये अपने भिन्न-भिन्न कार्यों से निश्चित किये जाते हैं और ये ही बुद्धि के स्पष्ट लक्षण हैं।

तात्पर्य : बुद्धि के प्रमुख कार्यों में से सन्देह एक है। किसी बात को आँख मूँदकर स्वीकार करना बुद्धि का परिचायक नहीं है। अतः संशय शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बुद्धि का अनुशीलन करने के लिए मनुष्य को प्रारम्भ में सन्देहयुक्त रहना चाहिए, किन्तु जब उचित साधन से सूचना प्राप्त हो रही हो तो सन्देह करना अनुकूल नहीं होता। भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि अधिकारी के शब्दों में सन्देह करना विनाश का कारण है।

जैसाकि पतञ्जलि योग-पद्धति में बताया गया है—प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः। बुद्धि से मनुष्य वस्तुओं को उसी रूप में समझ सकता है जैसे वे हैं। बुद्धि से ही मनुष्य जान सकता है कि वह शरीर है या नहीं। यह ज्ञात करना कि किसी की पहचान भौतिक है या आध्यात्मिक, सन्देहास्पद रहता है। जब वह अपनी वास्तविक स्थिति का विश्लेषण कर पाने में सक्षम होता है, तो झूठे देहात्म-बोध का पता चलता है। यह विपर्यास है। झूठी पहचान का पता चल जाने पर वास्तविक पहचान जानी जा सकती है। वास्तविक ज्ञान को यहाँ निश्चय अथवा सिद्ध व्यावहारिक ज्ञान कहा गया है। यह व्यावहारिक ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है जब झूठा ज्ञान समझ में आ चुका हो। व्यावहारिक या सिद्ध ज्ञान से मनुष्य यह जान सकता है कि वह शरीर नहीं अपितु आत्मा है।

स्मृति का अर्थ 'स्मरणशक्ति' है और स्वाप का अर्थ 'निद्रा' है। बुद्धि को क्रियाशील रखने के लिए निद्रा आवश्यक है। यदि निद्रा न हो, तो मस्तिष्क ठीक से कार्य नहीं कर सकता। भगवद्गीता में यह विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि जो लोग भोजन, नींद तथा शरीर की अन्य आवश्यकताओं को समुचित मात्रा में नियमित कर लेते हैं, वे योगक्रिया में अत्यन्त

सफल होते हैं। ये बुद्धि के विश्लेषणात्मक अध्ययन के कुछ पक्ष हैं जिनका वर्णन पतञ्जलि योग-पद्धति तथा कपिलदेव के सांख्य दर्शन में *श्रीमद्भागवत्* में हुआ है।

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।

प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसानि—रजोगुणी अहंकार से उत्पन्न; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; एव—निश्चय ही; क्रिया—कर्म; ज्ञान—ज्ञान;  
विभागशः—के अनुसार; प्राणस्य—प्राण की; हि—निश्चय ही; क्रिया-शक्तिः—कर्मेन्द्रियाँ; बुद्धेः—बुद्धि की;  
विज्ञान-शक्तिता—ज्ञानेन्द्रियाँ।

रजोगुणी अहंकार से दो प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ प्राणशक्ति पर और ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि पर आश्रित होती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में बताया जा चुका है कि मन सतोगुणी अहंकार की उपज है और इसका कार्य संकल्प तथा विकल्प है। किन्तु यहाँ पर बुद्धि को रजोगुणी अहंकार बताया गया है। मन तथा बुद्धि का यही अन्तर है—मन सतोगुणी अहंकार से उत्पन्न है जब कि बुद्धि रजोगुणी अहंकार से। किसी वस्तु को स्वीकार करने (संकल्प) तथा किसी वस्तु का परित्याग करने (विकल्प) की इच्छा मन का महत्त्वपूर्ण गुण है। सतोगुण से उत्पन्न होने के कारण यदि मन अनिरुद्ध पर स्थिर रहता है, जो मन के स्वामी हैं, तो इसे कृष्णभक्ति की ओर मोड़ा जा सकता है। नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं कि हम इच्छाओं से सदैव पूर्ण रहते हैं। इच्छाओं को रोका नहीं जा सकता, किन्तु यदि हम अपनी इच्छाओं को भगवान् को प्रसन्न करने की ओर लगा दें तो समझिये कि जीवन सफल हो गया। ज्योंही इच्छा को प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की ओर लगा दिया जाता है, वह पदार्थ द्वारा दूषित हो जाती है। इच्छा को शुद्ध करना पड़ता है। प्रारम्भ में शुद्धिकरण का कार्य गुरु की आज्ञा से करना होता है, क्योंकि गुरु को पता रहता है कि शिष्य की इच्छाओं को किस तरह कृष्णभक्ति में बदला जा सकता है। जहाँ तक बुद्धि की बात है, वह रजोगुण से उत्पन्न है। अभ्यास से यह सतोगुण को प्राप्त होती है और भगवान् की शरण में जाने या उन पर मन स्थिर करने से ही मनुष्य महात्मा बनता है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है—*स महात्मा सुदुर्लभः*—ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।



इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—रजोगुण की उपज हैं। और चूँकि इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों को शक्ति—प्राणशक्ति—की आवश्यकता होती है, अतः यह शक्ति भी रजोगुण से उत्पन्न है। अतः हम सचमुच देख सकते हैं कि जो अत्यन्त रजोगुणी हैं, वे भौतिक उपलब्धियों में भी तेजी से उन्नति करते हैं। वैदिक शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि यदि कोई किसी व्यक्ति को भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है, तो उसे कामी जीवन के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए। हम सहज रूप में पाते हैं कि जो कामी जीवन के प्रति आसक्त हैं, वे भौतिक दृष्टि से भी अग्रसर हैं, क्योंकि विषयी जीवन अर्थात् कामोन्मुखी जीवन ही सभ्यता की भौतिक उन्नति का प्रेरक है। जो लोग आध्यात्मिक उन्नति करने के इच्छुक हैं उनके लिए रजोगुण का अस्तित्व लगभग होता ही नहीं। केवल सतोगुण ही प्रधान रहता है। देखने में आता है कि जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं, वे भौतिक दृष्टि से निर्धन होते हैं, किन्तु जिनके आँखें हैं, वे देख सकते हैं कि बड़ा कौन है। यद्यपि भक्त ऊपर से निर्धन प्रतीत होता है, किन्तु कृष्णभावनामृत लगा व्यक्ति वास्तव में निर्धन होता नहीं। अपितु जिसमें कृष्णभक्ति के लिए रुचि नहीं होती और जो ऊपर से अपनी भौतिक सम्पत्ति के कारण सुखी जान पड़ता है, वही वास्तव में निर्धन है। जिन व्यक्तियों के पास भौतिक चेतना होती है वे अपने भौतिक आराम के लिए नई-नई वस्तुएँ खोज निकालने में अत्यन्त बुद्धिमान होते हैं, किन्तु आत्मा तथा आध्यात्मिक जीवन तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती। अतः यदि कोई भौतिक जीवन में आगे बढ़ना चाहता है, तो उसे विशुद्ध इच्छा अर्थात् भक्ति की विशुद्ध इच्छा के घरातल पर तक उतरना होगा। जैसाकि *नारद-पंचरात्र* में कथित है, जब इन्द्रियाँ कृष्ण चेतना में शुद्ध होकर भगवान् की सेवा में लगी हों तो उसे शुद्ध भक्ति कहते हैं।

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् ।

शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तामसात्—तामसी अहंकार से; च—तथा; विकुर्वाणात्—विकार से; भगवत्-वीर्य—भगवान् की शक्ति से;  
 चोदितात्—प्रेरित; शब्द-मात्रम्—शब्द का सूक्ष्म तत्त्व; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; नभः—आकाश;  
 श्रोत्रम्—कर्णेन्द्रिय; तु—तब; शब्द-गम्—जो शब्द को ग्रहण करता है।

जब तामसी अहंकार भगवान् की वीर्य ( काम ) शक्ति से प्रेरित होता है, तो सूक्ष्म शब्द तत्त्व प्रकट होता है और शब्द से आकाश तथा और उससे श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं।

**तात्पर्य :** इस श्लोक से लगता है कि हमारी इन्द्रियतृप्ति के सारे पदार्थ तमोगुणी अहंकार की उपज हैं। इस श्लोक से पता चलता है कि तामसी-अहंकार तत्त्व के उद्वेलन से सबसे पहले शब्द उत्पन्न हुआ जो आकाश का सूक्ष्म रूप हैं। वेदान्त-सूत्र में भी कहा गया है कि शब्द ही समस्त भौतिक पदार्थों का मूल (उत्स) है और शब्द से ही इस जगत का विलय हो सकता है। *अनावृत्तिः शब्दात्* का अर्थ है, “शब्द से मुक्ति।” शब्द से ही समग्र जगत का प्रारंभ हुआ और यदि शब्द में विशिष्ट शक्ति हो तो यह सारे भवबंधन को समाप्त कर सकता है। ऐसा कर सकने वाला विशिष्ट शब्द हरे कृष्ण की दिव्य ध्वनि ही है। भौतिक मामलों में हमारे बन्धन का सूत्रपात शब्द से ही हुआ। अब हमें इस शब्द को शुद्ध करके आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत करना है। आध्यात्मिक जगत में भी शब्द है। यदि हम उस शब्द को पा लें तो हमारा आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो जाता है और आध्यात्मिक प्रगति की अन्य आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि हमारी इन्द्रियतृप्ति के लिए जितने पदार्थ चाहिए उन सबकी उत्पत्ति ध्वनि से हुई। इसी प्रकार यदि शब्द शुद्ध कर लिया जाता है, तो हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताएँ ध्वनि से ही उत्पन्न होती हैं।

यहाँ यह कहा गया है कि ध्वनि से ही आकाश की उत्पत्ति हुई और आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। किस तरह ध्वनि से आकाश, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न होते हैं—इसकी व्याख्या बाद में की जाएगी। शब्द आकाश का कारण है और आकाश श्रोत्रम् अर्थात् कान का। कान पहली ज्ञानेन्द्रिय है। यदि कोई किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, तो उसे कानों से ही ग्रहण किया जा सकता है। अतः श्रोत्रम् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक ज्ञान श्रुति कहलाता है, क्योंकि ज्ञान सुनकर ही प्राप्त

किया जा सकता है। सुनकर ही हम भौतिक या आध्यात्मिक आनन्द तक पहुँच सकते हैं।

भौतिक जगत में हम अपने आराम के लिए अनेक वस्तुओं का निर्माण सुनकर ही करते हैं। वे पहले से विद्यमान रहती हैं, किन्तु सुनने मात्र से उन्हें रूपान्तरित किया जा सकता है। यदि हम गगनचुम्बी भवन बनाना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि हमें इसकी उत्पत्ति करनी होगी। गगनचुम्बी भवन की सारी सामग्री—लकड़ी, धातु, मिट्टी आदि पहले से विद्यमान है, किन्तु हम पहले से उत्पन्न इन पदार्थों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क यह सुनकर स्थापित करते हैं कि इनका उपयोग कैसे किया जाता है। उत्पत्ति के लिए आधुनिक आर्थिक विकास भी शब्द (सुनने) का परिणाम (फल) है। इसी प्रकार असली स्रोत से श्रवण करके उपयुक्त आध्यात्मिक कर्मक्षेत्र बनाया जा सकता है। अर्जुन देहात्मबुद्धि वाला निपट भौतिकतावादी था और देहात्मबुद्धि से बुरी तरह पीड़ित था। किन्तु श्रवण मात्र से वह कृष्णभक्त बन गया। सुनना (शब्द) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसकी उत्पत्ति आकाश से होती है। श्रवण मात्र से हम पहले से विद्यमान वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। यही आध्यात्मिक सामग्रियों पर भी लागू होता है। अतः हमें उचित स्रोत से श्रवण करना चाहिए।

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।

तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

अर्थ-आश्रयत्वम्—जो किसी पदार्थ का अर्थ वहन करे; शब्दस्य—शब्द का; द्रष्टुः—वक्ता का; लिङ्गत्वम्—उपस्थिति का सूचक; एव—भी; च—यथा; तत्-मात्रत्वम्—सूक्ष्म तत्त्व; च—तथा; नभसः—आकाश की; लक्षणम्—परिभाषा; कवयः—विद्वान् पुरुष; विदुः—जानते हैं।

जो लोग विद्वान् हैं और वास्तविक ज्ञान से युक्त हैं, वे शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं अर्थात् वह जो किसी पदार्थ के विचार ( अर्थ ) को वहन करता है, ओट में खड़े वक्ता की उपस्थिति को सूचित करता है और आकाश का सूक्ष्म रूप होता है।

तात्पर्य : यहाँ यह अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्योंही हम सुनने (शब्द) की बात करते हैं, तो वक्ता चाहिए, वक्ता के बिना सुनने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः वैदिक ज्ञान, जिसे श्रुति कहते हैं अर्थात् जो सुनकर ग्रहण किया जाता है, अपौरुष भी कहलाता है। अपौरुष का अर्थ

है “जो भौतिक रूप से उत्पन्न किसी व्यक्ति द्वारा न कहा गया हो।” श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही कहा गया है—तेने ब्रह्म हृदा। ब्रह्म का शब्द या वेद सर्वप्रथम आदि विद्वान् पुरुष (आदिकवये) ब्रह्मा के हृदय में स्थापित किया गया। वे किस तरह विद्वान् बने? जब भी कोई विद्या होती है, तो वक्ता चाहिए और सुनने की क्रिया होनी चाहिए। किन्तु ब्रह्मा तो आदि जीव थे। उनसे किसने कहा? जब कोई न था, तो उन्हें ज्ञान देने वाला गुरु कौन था? चूँकि वे ही एकमात्र प्राणी थे इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने यह ज्ञान उनके हृदय के भीतर प्रदान किया। वैदिक ज्ञान परमेश्वर द्वारा उक्त है फलतः यह भौतिक ज्ञान के दोषों से मुक्त है। भौतिक ज्ञान दोषपूर्ण होता है। यदि हम बद्धजीव से कुछ सुनते हैं, तो वह दोषपूर्ण रहता है। सारी सांसारिक जानकारियाँ मोह, त्रुटि, धोखे तथा इन्द्रियों की अपूर्णताओं से भरी रहती है। चूँकि वैदिक ज्ञान इस भौतिक जगत से परे परमेश्वर द्वारा प्रदान किया गया अतः यह पूर्ण है। यदि हम ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो हमें पूर्ण ज्ञान मिलता है।

सुने जाने वाले प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है। ज्योंही हम ‘जल’ शब्द सुनते हैं, तो इसके पीछे एक पदार्थ—जल—रहता है। इसी प्रकार जब हम ईश्वर शब्द सुनते हैं, तो उसका एक अर्थ होता है। यदि हम ईश्वर शब्द के अर्थ और उसकी व्याख्या को स्वयं भगवान् से प्राप्त करते हैं, तो वह पूर्ण होता है। किन्तु यदि हम ईश्वर के अर्थ के विषय में चिन्तन करते हैं, तो वह अपूर्ण होता है। भगवद्गीता तत्त्वज्ञान है, जिसे स्वयं भगवान् ने कहा है। यह पूर्ण ज्ञान है। चिन्तनवादी या तथाकथित दार्शनिक जो यह खोज करते रहते हैं कि वास्तव में ईश्वर क्या है वे ईश्वर को कभी नहीं समझ पाएँगे। तत्त्वज्ञान को ब्रह्मा से चली आने वाली शिष्य-परम्परा से ग्रहण करना होता है। ब्रह्मा को स्वयं भगवान् ने यह ज्ञान प्रदान किया था। हम शिष्य-परम्परा से अधिकृत व्यक्ति से भगवद्गीता सुनकर तत्त्वज्ञान को समझ सकते हैं।

जब हम देखने की बात करते हैं, तो उसका स्वरूप भी होना चाहिए। आकाश ही स्वरूप का प्रारम्भ (आदि) है। आकाश से अन्य रूप उद्भूत होते हैं। अतः आकाश से ज्ञान तथा

विषयों का शुभारम्भ होता है।

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।

प्राणेन्द्रियात्मधिष्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

भूतानाम्—समस्त जीवों का; छिद्र-दातृत्वम्—स्थान देना; बहिः—बाह्य; अन्तरम्—आन्तरिक; एव—भी; च—तथा; प्राण—प्राणवायु का; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्म—तथा मन; धिष्यत्त्वम्—कर्मक्षेत्र होने से; नभसः—आकाशतत्त्व; वृत्ति—कार्य; लक्षणम्—लक्षण।

समस्त जीवों को उनके बाह्य तथा आन्तरिक अस्तित्व के लिए अवकाश (स्थान) प्रदान करना, जैसे कि प्राणवायु, इन्द्रिय एवं मन का कार्यक्षेत्र—ये आकाश तत्त्व के कार्य तथा लक्षण हैं।

तात्पर्य : मन, इन्द्रिय तथा प्राणशक्ति या जीवात्मा के रूप होते हैं भले ही वे इन चर्म चक्षुओं से दिखाई न पड़ें। रूप का आधार आकाश है और आन्तरिक रूप में यह शरीर के भीतर की नसों तथा प्राणवायु के संचरण के रूप में देखा जाता है। बाह्य रूप से इन्द्रियों के अदृश्य रूप होते हैं। अदृश्य इन्द्रियों की उत्पत्ति आकाश तत्त्व का बाह्य कर्म है और प्राणवायु तथा रक्त का संचार आन्तरिक कार्य है। आकाश में सूक्ष्म रूपों के अस्तित्व की पुष्टि आधुनिक विज्ञान द्वारा टेलीविजन सम्प्रेषण के रूप में की गई है, जिसमें एक स्थान के रूपों या चित्रों को आकाश तत्त्व की क्रिया से दूसरे स्थान को प्रेषित किया जाता है। इसकी यहाँ अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्याख्या की गई है। यह श्लोक महान् वैज्ञानिक शोध कार्य के लिए महत्त्वपूर्ण आधार है, क्योंकि यह बताता है कि किस प्रकार आकाश तत्त्व से सूक्ष्म रूप उत्पन्न होते हैं, उनके गुण तथा कार्य क्या हैं और किस तरह सूक्ष्म रूप से वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी जैसे मूर्त तत्त्वों का प्राकट्य होता है। चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा जैसे मानसिक या मनोवैज्ञानिक कार्य भी आकाश तत्त्व के धरातल में सम्पन्न होते हैं। *भगवद्गीता* का यह कथन कि मृत्यु के समय जैसी मानसिक स्थिति होती है उसी के आधार पर अगला जन्म होता है, इसका भी इस श्लोक में सन्निवेश हुआ है। ज्योंही सूक्ष्म रूप से स्थूल तत्त्वों में विकास का या कल्मष का अवसर प्राप्त होता है कि आन्तरिक (मानसिक) अस्तित्व मूर्त रूप में बदल जाते हैं।

नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।

स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक्स्पर्शस्य च सङ्ग्रहः ॥ ३५ ॥

**शब्दार्थ**

नभसः—आकाश से; शब्द-तन्मात्रात्—सूक्ष्म शब्द तत्त्व से प्रकट होता है; काल-गत्या—काल की गति से; विकुर्वतः—विकार आने से; स्पर्शः—स्पर्श सूक्ष्म तत्त्व; अभवत्—उत्पन्न हुआ; ततः—उससे; वायुः—वायु; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा; स्पर्शस्य—स्पर्श की; च—यथा; सङ्ग्रहः—अनुभव ।

ध्वनि उत्पन्न करने वाले आकाश में काल की गति से विकार उत्पन्न होता है और इस तरह स्पर्श तन्मात्र प्रकट होता है। इससे फिर वायु तथा स्पर्श इन्द्रिय उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : कालान्तर में जब सूक्ष्म रूप स्थूल रूपों में परिणत होते हैं, तो वे स्पर्श की वस्तुएँ बन जाते हैं। काल की गति के साथ स्पर्श इन्द्रिय का विकास होता है। शब्द अस्तित्व में आने वाली पहली ज्ञानेन्द्रिय है और शब्दबोध से स्पर्शबोध विकसित होता है, जिससे फिर दृष्टिबोध आता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के क्रमिक विकास की यही विधि है।

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।

एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥ ३६ ॥

**शब्दार्थ**

मृदुत्वम्—कोमलता; कठिनत्वम्—कठोरता; च—तथा; शैत्यम्—शीतलता; उष्णत्वम्—उष्णता; एव—भी; च—यथा; एतत्—यह; स्पर्शस्य—स्पर्श तन्मात्र का; स्पर्शत्वम्—भिन्नता बताने वाले लक्षण; तत्-मात्रत्वम्—सूक्ष्म रूप; नभस्वतः—वायु का ।

कोमलता तथा कठोरता एवं शीतलता तथा उष्णता—ये स्पर्श को बताने वाले लक्षण हैं, जिन्हें वायु के सूक्ष्म रूप में लक्षित किया जाता है।

तात्पर्य : मूर्तरूप में होना स्वरूप का प्रमाण है। वास्तव में वस्तुओं को दो भिन्न प्रकार से समझा जाता है। वे या तो कोमल होती हैं या कठोर, शीतल अथवा गरम इत्यादि। स्पर्श इन्द्रिय की यह स्पर्शक्रिया आकाश से उत्पन्न वायु के विकास का प्रतिफल है।

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नैतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।

सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥ ३७ ॥

**शब्दार्थ**

चालनम्—हिलाना; व्यूहनम्—मिला देना; प्राप्तिः—पहुँचना; नेतृत्वम्—ले जाना; द्रव्य-शब्दयोः—पदार्थों के कण तथा शब्द; सर्व-इन्द्रियाणाम्—समस्त इन्द्रियों के; आत्मत्वम्—ठीक-ठीक कार्य करने के लिए; वायोः—वायु का; कर्म—क्रियाओं से; अभिलक्षणम्—स्पष्ट लक्षण।

गतियों, मिश्रण, शब्द को पदार्थों तथा अन्य इन्द्रिय बोधों तक पहुँचाने एवं अन्य समस्त इन्द्रियों के समुचित कार्य करते रहने के लिए सुविधाएँ प्रदान कराने में वायु की क्रिया लक्षित होती है।

तात्पर्य : जब हम पेड़ों की शाखाओं को हिलते या जमीन पर सूखी पत्तियों को आपस में एकत्र होते देखते हैं, तो हमें वायु की क्रिया का अनुभव होता है। इसी प्रकार वायु की क्रिया से ही शरीर गतिमान होता है और जब वायु अवरुद्ध हो जाती है, तो तमाम रोग फैलते हैं। लकवा, तन्त्रिका अवरोध, पागलपन तथा अन्य रोग वायु के अपर्याप्त संचार के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। 'आयुर्वेद' पद्धति में इन रोगों का इलाज वायु संचार के आधार पर किया जाता है। यदि प्रारम्भ से वायु संचार प्रक्रिया का ध्यान रखा जाय तो ऐसे रोग न हों। आयुर्वेद तथा श्रीमद्भागवत से भी यह स्पष्ट है कि केवल वायु के कारण अनेक क्रियाएँ अन्तः तथा बाह्य रूप से चलती रहती हैं और जैसे ही वायु-संचार में कमी आई नहीं कि ये क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—नेतृत्वं द्रव्य-शब्दयोः। क्रिया के ऊपर हमारा प्रभुत्व वायु की गतिशीलता के ही कारण है। यदि वायु का संचार रुक जाय तो हम शब्द सुनकर उस स्थान तक नहीं पहुँच सकते। यदि कोई हमें पुकारता है, तो हम वायु-संचार के ही कारण ध्वनि सुनते हैं और उस स्थान या व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जहाँ से ध्वनि आती है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि ये सब वायु की गतियों के कारण हैं। गन्ध की पहचान भी वायु की क्रिया के फलस्वरूप होती है।

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।

समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वायोः—वायु से; च—तथा; स्पर्श-तन्मात्रात्—स्पर्श तन्मात्र से उत्पन्न; रूपम्—रूप; दैव-ईरितात्—भाग्य के अनुसार; अभूत्—उत्पन्न हुआ; समुत्थितम्—ऊपर उठा; ततः—उससे; तेजः—अग्नि; चक्षुः—नेत्र, दृश्येन्द्रिय; रूप—रंग तथा रूप; उपलम्भनम्—देखने के लिए।

वायु तथा स्पर्श तन्मात्राओं की अन्तःक्रियाओं से मनुष्य को भाग्य के अनुसार विभिन्न रूप दिखते हैं। ऐसे रूपों के विकास के फलस्वरूप अग्नि उत्पन्न हुई और आँखें विविध रंगीन रूपों को देखती हैं।

तात्पर्य : दैव, स्पर्श-अनुभूति, वायु की अन्तःक्रियाएँ तथा आकाश तत्त्व से उत्पन्न मन की स्थिति के कारण अपने पूर्वकर्मों के अनुसार मनुष्य को शरीर प्राप्त होता है। कहना अनावश्यक है कि जीव एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है। भाग्य के अनुसार तथा वायु एवं मानसिक स्थिति की अन्तःक्रिया को नियन्त्रित करने वाली परम सत्ता की योजना द्वारा उसका रूप बदलता है। रूप विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय अनुभव का मिलाप है। पूर्वनिर्धारित कर्म मानसिक स्थिति तथा वायु की अन्तःक्रिया की योजनाएँ हैं।

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्ति-संस्थात्वमेव च ।

तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—द्रव्य का; आकृतित्वम्—आकार-प्रकार; गुणता—गुण; व्यक्ति-संस्थात्वम्—व्यक्तित्व; एव—भी; च—यथा; तेजस्त्वम्—तेज; तेजसः—अग्नि का; साध्वि—हे सती; रूप-मात्रस्य—सूक्ष्म तत्त्व रूप के; वृत्तयः—लक्षण।

हे माता, रूप के लक्षण आकार-प्रकार, गुण तथा व्यष्टि से जाने जाते हैं। अग्नि का रूप उसके तेज से जाना जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक रूप जिसकी हम अनुभूति करते हैं उसके विशिष्ट आकार-प्रकार तथा लक्षण होते हैं। किसी विशिष्ट वस्तु की गुणता उसकी उपयोगिता से आँकी जाती है। किन्तु ध्वनि का रूप स्वतन्त्र है। जो रूप अदृश्य हैं उन्हें केवल स्पर्श से जाना जा सकता है; अदृश्य रूप की यह स्वतन्त्र अनुभूति है। दृश्य रूप अपनी संरचना के विश्लेषणात्मक अध्ययन से जाने जाते हैं। किसी पदार्थ की संरचना उसकी आन्तरिक क्रिया से जानी जाती है। उदाहरणार्थ, नमक के स्वरूप को उसके लवणीय स्वाद से और चीनी को उसके मीठे स्वाद की अन्तःक्रियाओं से जाना जाता है। किसी पदार्थ के रूप को समझने के लिए स्वाद तथा गुणात्मक संरचना आधारभूत सिद्धान्त हैं।



द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।

तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

द्योतनम्—प्रकाश; पचनम्—पकाना, पचाना; पानम्—पीना; अदनम्—खाना; हिम-मर्दनम्—शीत को विनष्ट करने वाला; तेजसः—अग्नि के; वृत्तयः—कार्य; तु—निस्सन्देह; एताः—ये; शोषणम्—वाष्पीकरण; क्षुत्—भूख; तृद्—प्यास; एव—भी; च—तथा ।

अग्नि अपने प्रकाश के कारण पकाने, पचाने, शीत नष्ट करने, भाप बनाने की क्षमता के कारण एवं भूख, प्यास, खाने तथा पीने की इच्छा उत्पन्न करने के कारण अनुभव की जाती है ।

तात्पर्य : अग्नि का पहला लक्षण है प्रकाश तथा उष्मा का वितरण । अग्नि की उपस्थिति आमाशय में भी अनुभव की जाती है । बिना अग्नि के हम खाये हुए भोजन को पचा नहीं पाते । बिना पाचन के न तो भूख लगती है, न प्यास और न खाने-पीने की शक्ति रहती है । जब अपर्याप्त भूख तथा प्यास रहे तो समझना चाहिए कि जठराग्नि मन्द पड़ गई है और इस अग्नि-मांद्यम् का आयुर्वेदिक उपचार किया जाता है । चूँकि अग्नि का वर्धन पित्तरस के निकलने से होता है, अतः इसका उपचार पित्तरस के उत्सर्जन को बढ़ाना है । इस प्रकार आयुर्वेदिक उपचार भागवत के कथनों का समर्थक है । शीत के प्रभाव को दमित करने में अग्नि का गुण सर्वविदित है । असह्य शीत का सामना अग्नि द्वारा किया जाता है ।

रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।

रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥ ४१ ॥

#### शब्दार्थ

रूप-मात्रात्—सूक्ष्म तत्त्व रूप से उत्पन्न; विकुर्वाणात्—विकार से; तेजसः—अग्नि से; दैव-चोदितात्—दैवी व्यवस्था से; रस-मात्रम्—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; अम्भः—जल; जिह्वा—स्वादेन्द्रिय; रस-ग्रहः—स्वाद ग्रहण करने वाली ।

अग्नि तथा दृष्टि की अन्तःक्रिया से दैवी व्यवस्था के अन्तर्गत स्वाद तन्मात्र उत्पन्न होता है । इस स्वाद से जल उत्पन्न होता है और स्वाद ग्रहण करने वाली जीभ भी प्रकट होती है ।

**तात्पर्य :** यहाँ जीभ को स्वाद का ज्ञान प्राप्त करने का साधन बताया गया है। चूँकि स्वाद जल का उत्पाद है, अतः जीभ पर सदैव लार रहती है।

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा ।  
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥ ४२ ॥

**शब्दार्थ**

कषायः—कषैला; मधुरः—मीठा; तिक्तः—तीता; कटु—कड़वा; अम्लः—खट्टा; इति—इस प्रकार; न-एकधा—अनेक प्रकार का; भौतिकानाम्—अन्य वस्तुओं के; विकारेण—विकार से; रसः—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद; एकः—मूलतः एक; विभिद्यते—विभाजित होता है।

यद्यपि मूल रूप से स्वाद एक ही है, किन्तु अन्य पदार्थों के संसर्ग से यह कषैला मधुर, तीखा, कड़वा, खट्टा तथा नमकीन—कई प्रकार का हो जाता है।

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।  
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥ ४३ ॥

**शब्दार्थ**

क्लेदनम्—गीला करना; पिण्डनम्—पिंड बना देना, थक्के जमा देना; तृप्तिः—तृप्त करना; प्राणन—जीवित रखना; आप्यायन—तरोताजा रखना; उन्दनम्—मुलायम बनाना; ताप—उष्मा, गर्मी; अपनोदः—भगाना; भूयस्त्वम्—प्रचुरता से; अम्भसः—जल के; वृत्तयः—विशिष्ट कार्य; तु—वास्तव में; इमाः—ये।

जल की विशेषताएँ उसके द्वारा अन्य पदार्थों को गीला करने, विभिन्न मिश्रणों के पिण्ड बनाने, तृप्ति लाने, जीवन पालन करने, वस्तुओं को मुलायम बनाने, गर्मी भगाने, जलागारों की निरन्तर पूर्ति करते रहने तथा प्यास बुझाकर तरोताजा बनाने में हैं।

**तात्पर्य :** जल पीकर क्षुधा मिटाई जा सकती है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि यदि कोई व्यक्ति उपवास व्रत रखता है और बीच-बीच में उसे थोड़ा जल दे दिया जाता है, तो उपवास के कारण उत्पन्न क्षीणता कम होती है। वेदों में भी कहा गया है—*आपोमयः प्राणः*—जीवन जल पर निर्भर है। जल से किसी भी वस्तु को गीला या नम किया जा सकता है। आटे में जल मिलाने से लोई बन जाती है। मिट्टी तथा जल मिलाने से कीचड़ उत्पन्न होता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कथित है—विभिन्न भौतिक तत्त्वों को जोड़ने वाला अवयव जल ही है। जब हम मकान बनाते हैं, तो ईंटें बनाने में प्रमुख अवयव जल ही होता

है। समग्र जगत में अग्नि, जल तथा वायु विनिमयकारी तत्त्व हैं, किन्तु इनमें से जल प्रमुख है। तपते हुए स्थान में जल डाल कर अत्यधिक तप्तता दूर की जा सकती है।

रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।

गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥ ४४ ॥

**शब्दार्थ**

रस-मात्रात्—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद से उत्पन्न; विकुर्वाणात्—विकार से; अम्भसः—जल से; दैव-चोदितात्—दैवी व्यवस्था से; गन्ध-मात्रम्—सूक्ष्म तत्त्व गंध; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; पृथ्वी—पृथ्वी; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; तु—वास्तव में; गन्ध-गः—सुगन्धि ग्रहण करने वाली।

स्वाद अनुभूति और जल की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप दैवी विधान से गन्ध तन्मात्रा उत्पन्न होती है। उससे पृथ्वी तथा घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं जिससे हम पृथ्वी की सुगन्धि का बहुविध अनुभव कर सकते हैं।

करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् ।

द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥ ४५ ॥

**शब्दार्थ**

करम्भ—मिश्रित; पूति—दुर्गन्ध; सौरभ्य—सुगन्धित; शान्त—मृदु; उग्र—तीक्ष्ण, तीव्र; अम्ल—खट्टी; आदिभिः—इत्यादि; पृथक्—भिन्न; द्रव्य—पदार्थ के; अवयव—भागों के; वैषम्यात्—विविधता के अनुसार; गन्धः—गन्ध; एकः—एक; विभिद्यते—विभाजित होती है।

यद्यपि गन्ध एक है, किन्तु सम्बद्ध पदार्थों के अनुपातों के अनुसार अनेक प्रकार की हो जाती है, यथा—मिश्रित, दुर्गन्ध, सुगन्धित, मृदु, तीव्र, अम्लीय इत्यादि।

तात्पर्य : कभी-कभी विभिन्न अवयवों से तैयार किये गये भोज्य पदार्थों में मिश्रित गन्ध आती है—यथा तरकारियों में मसाले तथा हींग मिलाने से। गन्दे स्थानों से दुर्गन्ध आती है; कपूर, पुदीना तथा अन्य पदार्थों से अच्छी महक (सुगन्ध) आती है; प्याज तथा लहसुन से तीक्ष्ण गन्ध आती है और हल्दी तथा अन्य खट्टी वस्तुओं से अम्लीय (खट्टी) गंध आती है। मूल गंध तो पृथ्वी से निकलने वाली महक है और जब यह विभिन्न पदार्थों से मिल जाती है, तो विविध रूपों में प्रकट होती है।

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।

सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥ ४६ ॥

### शब्दार्थ

भावनम्—मूर्ति जैसे रूप; ब्रह्मणः—परब्रह्म के; स्थानम्—आवास स्थान बनाने; धारणम्—वस्तुओं को धारण करने; सत्-विशेषणम्—खुले आकाश को अलग करना; सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व के; गुण—गुण; उद्भेदः—प्राकट्य का स्थान; पृथिवी—पृथ्वी के; वृत्ति—कार्यों के; लक्षणम्—लक्षण।

परब्रह्म के स्वरूपों को आकार प्रदान करके, आवास स्थान बनाकर, जल रखने के पात्र बनाकर पृथ्वी के कार्यों के लक्षणों को देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, पृथ्वी समस्त तत्त्वों का आश्रय स्थल है।

तात्पर्य : पृथ्वी में ध्वनि, आकाश, वायु, अग्नि, जल जैसे विभिन्न तत्त्व देखे जा सकते हैं। यहाँ पर पृथ्वी की अन्य विशेषता का उल्लेख हुआ है और वह यह है कि पृथ्वी से भगवान् के विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। कपिल के इस कथन से इसकी पुष्टि होती है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् ब्रह्म के असंख्य रूप हैं, जिनका शास्त्रों में वर्णन मिलता है। पृथ्वी तथा इसके उत्पादों—यथा पत्थर, लकड़ी तथा रत्न को ठीक से मिलाकर ब्रह्म के इन स्वरूपों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। जब मिट्टी की मूर्ति द्वारा भगवान् कृष्ण या भगवान् विष्णु का स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है, तो वह काल्पनिक नहीं होता। पृथ्वी भगवान् के स्वरूपों को शास्त्रों में वर्णित आकार प्रदान करती है।

ब्रह्म-संहिता में भगवान् कृष्ण की भूमि, वैकुण्ठधाम की विचित्रता तथा अपने आध्यात्मिक शरीर से बाँसुरी बजाते हुए उनके स्वरूप का वर्णन मिलता है। इन सब रूपों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है और जब उन्हें वैसे ही रूपों में प्रस्तुत किया जाता है, तो वे पूज्य बन जाते हैं। वे काल्पनिक नहीं हैं जैसाकि मायावादी दर्शन कहता है। कभी-कभी भावन शब्द की व्याख्या 'कल्पना' के रूप में की जाती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है वैदिक विवरणों के अनुसार आकार प्रदान करना। पृथ्वी समस्त जीवात्माओं तथा उनके गुणों का चरम रूपान्तरण है।

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते ।

वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥ ४७ ॥

**शब्दार्थ**

नभः-गुण-विशेषः—आकाश का विशिष्ट गुण ( शब्द ); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; उच्यते—कहलाता है; वायोः गुण-विशेषः—वायु का विशिष्ट गुण ( स्पर्श ); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; स्पर्शनम्—स्पर्शेन्द्रिय ( त्वचा ); विदुः—जानते हैं ।

वह इन्द्रिय जिसका विषय शब्द है श्रवणेन्द्रिय और जिसका विषय स्पर्श है, वह त्वगिन्द्रिय कहलाती है ।

तात्पर्य : शब्द आकाश के गुणों में से एक है और इसका विषय सुनना है । इसी प्रकार स्पर्श वायु का गुण है और इसका विषय है स्पर्शानुभूति ।

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते

अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः ।

भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥ ४८ ॥

**शब्दार्थ**

तेजः-गुण-विशेषः—अग्नि का विशेष गुण ( रूप ); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; चक्षुः—आँख, नेत्रेन्द्रिय; उच्यते—कहलाती है; अम्भः-गुण-विशेषः—जल का विशेष गुण ( स्वाद ); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; रसनम्—स्वाद की इन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, रसना; विदुः—जानी जाती है; भूमेः गुण-विशेषः—भूमि का विशेष गुण ( गंध ); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; सः—वह; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; उच्यते—कहलाती है ।

वह इन्द्रिय जिसका विषय अग्नि का विशेष गुण रूप है, वह नेत्रेन्द्रिय है । जिस इन्द्रिय का विषय जल का विशेष स्वाद है, वह रसनेन्द्रिय कहलाती है । जिस इन्द्रिय का विषय पृथ्वी का विशिष्ट गुण गंध है, वह घ्राणेन्द्रिय कही जाती है ।

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन्समन्वयात् ।

अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥ ४९ ॥

**शब्दार्थ**

परस्य—कारण का; दृश्यते—देखा जाता है; धर्मः—गुण; हि—निस्सन्देह; अपरस्मिन्—कार्य में; समन्वयात्—समन्वय या व्यवस्था से; अतः—अतएव; विशेषः—विशेष गुण; भावानाम्—समस्त तत्त्वों से; भूमौ—पृथ्वी में; एव—अकेले; उपलक्ष्यते—देखा जाता है ।

चूँकि कारण अपने कार्य में भी विद्यमान रहता है, अतः पहले के लक्षण ( गुण ) दूसरे में भी देखे जाते हैं । इसीलिए केवल पृथ्वी में ही सारे तत्त्वों की विशिष्टताएँ पाई जाती हैं ।

**तात्पर्य :** शब्द आकाश का कारण है, आकाश वायु का, वायु अग्नि का, अग्नि जल का और जल पृथ्वी का कारण है। आकाश में केवल शब्द है; वायु में शब्द तथा स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस (स्वाद); और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध भी रहते हैं। फलतः पृथ्वी अन्य तत्त्वों के समस्त गुणों का आगार है। पृथ्वी समस्त तत्त्वों का सार है। पृथ्वी में तत्त्वों के पाँचों गुण पाये जाते हैं, जल में चार, अग्नि में तीन, वायु में दो तथा आकाश में केवल एक गुण —शब्द—पाया जाता है।

एतान्यसंहृत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।

कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥ ५० ॥

#### शब्दार्थ

एतानि—ये; असंहृत्य—न मिलकर; यदा—जब; महत्-आदीनि—महत् तत्त्व, अहंकार तथा पाँच स्थूलतत्त्व; सप्त—कुल मिलाकर सात; वै—वास्तव में; काल—समय; कर्म—कार्य; गुण—तथा तीनों गुणों के; उपेतः—साथ होकर; जगत्-आदिः—सृष्टि की उत्पत्ति; उपाविशत्—प्रविष्ट किया।

जब ये सारे तत्त्व मिले नहीं थे, तो सृष्टि के आदि कारण श्रीभगवान् ने काल, कर्म तथा गुणों के सहित सात विभागों वाली अपनी समग्र भौतिक शक्ति ( महत् तत्त्व ) के साथ ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया।

**तात्पर्य :** कारणों की उत्पत्ति का उल्लेख करने के बाद कपिलदेव कार्यों की उत्पत्ति के विषय में कह रहे हैं। जब सारे कारण मिले हुए नहीं थे तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने गर्भोदकशायी विष्णु-रूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर प्रविष्ट हुए। उनके साथ-साथ सात मूलभूत तत्त्व—पाँच भौतिक तत्त्व, समग्र शक्ति (महत् तत्त्व) तथा अहंकार—भी थे। श्रीभगवान् का यह प्रवेश भौतिक जगत के परमाणुओं तक में होता है। इसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता (५.३५) में होती है—अण्डान्तरस्थ-परमाणु-चयान्तरस्थम्। वे न केवल ब्रह्माण्ड के भीतर अपितु परमाणुओं के भीतर भी हैं। वे प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर हैं। गर्भोदकशायी विष्णु भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट कर गये।

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।

उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥ ५१ ॥

### शब्दार्थ

ततः—तब; तेन—भगवान् के द्वारा; अनुविद्धेभ्यः—उन सात तत्त्वों से सक्रिय हो उठे; युक्तेभ्यः—मिले हुए;  
अण्डम्—अंडा; अचेतनम्—अज्ञानी; उत्थितम्—उठा; पुरुषः—विराट प्राणी; यस्मात्—जिससे; उदतिष्ठत्—प्रकट  
हुआ; असौ—वह; विराट्—सुप्रसिद्ध।

भगवान् की उपस्थिति के कारण उत्प्रेरित होने तथा परस्पर मिलने से इन सात तत्त्वों से एक जड़ अण्डा उत्पन्न हुआ जिससे विख्यात विराट-पुरुष प्रकट हुआ।

तात्पर्य : विषयी जीवन में माता-पिता के पदार्थ के संयोग से जिसमें पायस (इमल्शन) बनना तथा रस उत्पन्न होना सम्मिलित हैं, ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि पदार्थ भीतर में आत्मा को ग्रहण कर लेता है और पदार्थ के संयोग से क्रमशः पूर्ण शरीर का विकास हो जाता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में भी यही सिद्धान्त पाया जाता है—सारे अवयव विद्यमान थे, किन्तु जब भगवान् इन तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट हुए तभी पदार्थ क्षुब्ध हुआ। उत्पत्ति (सृष्टि) का यही कारण है। इसे हम अपने सामान्य अनुभव में देखते हैं। यद्यपि मिट्टी, जल तथा अग्नि ये तीन तत्त्व विद्यमान होते हैं, किन्तु जब हम इन्हें मिलाने का प्रयास करते हैं तभी ये तत्त्व ईंट का आकार धारण करते हैं। जीवित शक्ति (प्राण) के बिना कोई सम्भावना नहीं रहती कि पदार्थ आकार ग्रहण कर सके। इसी प्रकार जब तक भगवान् *विराट-पुरुष* के रूप में इस भौतिक जगत को क्षुब्ध नहीं करते तब तक इसका विकास नहीं होता। *यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट्*—उनके प्रक्षोभ से आकाश उत्पन्न हुआ और उसके भीतर भगवान् का विराट रूप भी प्रकट हुआ।

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः

तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ।

यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥ ५२ ॥

### शब्दार्थ

एतत्—यह; अण्डम्—अण्डा; विशेष-आख्यम्—'विशेष' कहलाने वाला; क्रम—एक के पश्चात् एक, क्रमशः;  
वृद्धैः—बढ़ा; दश—दसगुना; उत्तरैः—अधिक बढ़ा; तोय-आदिभिः—जल इत्यादि के द्वारा; परिवृतम्—घिरा हुआ;  
प्रधानेन—प्रधान के द्वारा; आवृतैः—ढका हुआ; बहिः—बाहर से; यत्र—यहाँ; लोक-वितानः—लोकों का विस्तार;  
अयम्—यह; रूपम्—रूप; भगवतः—श्रीभगवान् का; हरेः—भगवान् हरि का।

यह अण्डाकार ब्रह्माण्ड भौतिक शक्ति का प्राकट्य कहलाता है। जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहंकार तथा महत्-तत्त्व की इसकी परतें (स्तर) क्रमशः मोटी होती जाती हैं।

प्रत्येक परत अपने से पूर्ववाली से दसगुनी मोटी होती है और अन्तिम बाह्य परत 'प्रधान' से घिरी हुई है। इस अण्डे के भीतर भगवान् हरि का विराट रूप रहता है, जिनके शरीर के अंग चौदहों लोक हैं।

**तात्पर्य :** यह ब्रह्माण्ड या ब्रह्माण्डीय-आकाश जिसकी कल्पना हम उसके असंख्य लोकों समेत करते हैं, एक अंडे के समान आकार वाला है। जिस तरह अंडा एक कवच से घिरा रहता है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड भी विविध परतों (स्तरों) से घिरा है। इसकी पहली परत जल है, दूसरी अग्नि, फिर वायु, तब आकाश और अन्तिम परत है 'प्रधान'। इस अण्डाकार ब्रह्माण्ड के भीतर *विराट-पुरुष* के रूप में भगवान् का विराट रूप है। सारे लोक उनके शरीर के अंग हैं। इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में पहले ही की जा चुकी है। सारे लोक भगवान् के इस विराट रूप के विभिन्न अंग माने जाते हैं। जो लोग भगवान् के दिव्यरूप की प्रत्यक्ष पूजा में नहीं लग पाते उन्हें चाहिए कि वे इस विराट रूप का चिन्तन करें और पूजा करें। निम्नतम लोक, पाताल, परमेश्वर का तलवा माना जाता है और पृथ्वी उनका उदर मानी जाती है। उच्चतम लोक, जहाँ ब्रह्माजी रहते हैं, ब्रह्मलोक है, जिसे भगवान् का मस्तक समझा जाता है।

यह विराट-पुरुष भगवान् का अवतार माना जाता है। भगवान् का आदिरूप तो श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में आदि-पुरुष कहकर पुष्टि की गई है। विराट-पुरुष भी पुरुष है, किन्तु वह आदि-पुरुष नहीं है। *आदि-पुरुष* तो श्रीकृष्ण हैं।  
*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः । अनादिरादिर्गोविन्दः ।*

*भगवद्गीता* में भी कृष्ण को आदिपुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। कृष्ण कहते हैं "मुझसे बड़ा कोई नहीं है।" भगवान् के असंख्य विस्तार हैं और वे सभी पुरुष अर्थात् भोक्ता हैं, किन्तु इनमें से कोई भी न तो विराट-पुरुष है न पुरुष-अवतार—कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—हैं और न अन्य विस्तारों में से कोई भी आदि है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु, विराट-पुरुष तथा क्षीरोदकशायी विष्णु होते हैं। यहाँ पर विराट-पुरुष के सक्रिय प्राकट्य का वर्णन हुआ है। जो लोग भगवान् के विषय में



निम्नस्तर का ज्ञान रखते हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् के विराट रूप का चिन्तन करें, क्योंकि 'भागवत' में इसका उपदेश दिया गया है।

यहाँ पर ब्रह्माण्ड के आकार-प्रकार का अनुमान लगाया गया है। इसका बाह्य आवरण जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहंकार तथा महत् तत्त्व की परतों से बना हुआ है और प्रत्येक परत इसके पहलेवाली परत से दसगुनी बड़ी है। ब्रह्माण्ड के खोखले के भीतर का अवकाश किसी मानवीय विज्ञानी या अन्य किसी के द्वारा मापा नहीं जा सकता। इस खोखले के आगे सात आवरण हैं जिनमें से प्रत्येक अपने से पीछे वाली परत से दसगुना बड़ा है। जल की परत ब्रह्माण्ड के व्यास से दसगुनी बड़ी है और अग्नि की परत जल की परत से दसगुनी बड़ी है। इसी प्रकार वायु की परत अग्नि की परत से दसगुनी है। ये आकार-प्रकार मनुष्य के लघु मस्तिष्क के लिए अकल्पनीय हैं।

यह भी कहा गया है कि यह वर्णन मात्र एक अण्डाकार ब्रह्माण्ड का है। इसके अतिरिक्त असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से कुछ तो कई गुना बड़े हैं। वास्तव में माना जाता है कि यह ब्रह्माण्ड सबसे छोटा है, फलतः इसके प्रबन्ध के लिए प्रमुख अधिष्ठाता अथवा ब्रह्मा के केवल चार सिर हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में जो इससे बहुत बड़े हैं ब्रह्मा के और अधिक सिर होते हैं। चैतन्य-चरितामृत में कहा गया है कि एक दिन ये सारे ब्रह्मा भगवान् कृष्ण द्वारा बुलाये गये और जब लघु ब्रह्मा ने बृहद् ब्रह्मा को देखा तो मानो उस पर वज्रपात हो गया। ऐसी है भगवान् की अचिन्त्य शक्ति। कोई भी चिन्तन द्वारा या ईश्वर के साथ मिथ्या ऐक्य द्वारा ईश्वर की लम्बाई-चौड़ाई नहीं नाप सकता। यदि कोई प्रयास करता है, तो यह पागलपन का द्योतक है।

हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिले शयात् ।  
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

हिरण्मयात्—सुनहले; अण्ड-कोशात्—अण्डे से; उत्थाय—निकल कर; सलिले—जल में; शयात्—लेटे हुए; तम्—उस; आविश्य—घुसकर; महा-देवः—श्रीभगवान्; बहुधा—कई प्रकार से; निर्बिभेद—बाँट दिया; खम्—छिद्र।

विराट-पुरुष, श्रीभगवान् उस सुनहले अंडे में स्थित हो गये जो जल में पड़ा हुआ था

और उन्होंने उसे कई विभागों में बाँट दिया ।

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।

वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः ॥ ५४ ॥

**शब्दार्थ**

निरभिद्यत—प्रकट हुआ; अस्य—उसका; प्रथमम्—सर्वप्रथम; मुखम्—मुँह; वाणी—वागेन्द्रिय; ततः—तब; अभवत्—बाहर आया; वाण्या—वागेन्द्रिय से; वह्निः—अग्नि का देवता; अथः—तब; नासे—दो नथुने; प्राण—प्राणवायु; उतः—जुड़ गये; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; एतयोः—उनमें ।

सर्वप्रथम उनके मुख प्रकट हुआ और फिर वागेन्द्रिय और इसी के साथ अग्नि देव प्रकट हुए जो इस इन्द्रिय के अधिष्ठाता देव हैं। तब दो नथुने प्रकट हुए और उनमें घ्राणेन्द्रिय तथा प्राण प्रकट हुए।

तात्पर्य : वाणी के प्रकट होते ही अग्नि भी प्रकट हुई और दोनों नथुनों के प्रकट होते ही प्राणवायु, श्वसन क्रिया तथा घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुए।

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः ।

तस्मात्सूर्यो न्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥ ५५ ॥

**शब्दार्थ**

घ्राणात्—घ्राणेन्द्रिय से; वायुः—वायुदेव; अभिद्येताम्—प्रकट हुआ; अक्षिणी—दो नेत्र; चक्षुः—चक्षु इन्द्रिय; एतयोः—इनमें; तस्मात्—उससे; सूर्यः—सूर्यदेव; न्यभिद्येताम्—प्रकट हुए; कर्णौ—दो कान; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; ततः—उससे; दिशः—दिशाओं के अधिष्ठाता ।

घ्राणेन्द्रिय के बाद उसका अधिष्ठाता वायुदेव प्रकट हुआ। तत्पश्चात् विराट रूप में दो चक्षु और उनमें चक्षु-इन्द्रिय प्रकट हुईं। इसके अनन्तर चक्षुओं का अधिष्ठाता सूर्यदेव प्रकट हुआ। फिर उनके दो कान और उनमें कर्णेन्द्रिय तथा दिशाओं के अधिष्ठाता दिग्देवता प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् के विराट रूप में विभिन्न शारीरिक अंगों एवं इन अंगों के अधिष्ठाता देवों के प्राकट्य का वर्णन किया जा रहा है। जिस प्रकार माता के गर्भ में शिशु के विभिन्न शारीरिक अंगों का विकास होता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के गर्भ में भगवान् के विराट रूप में विविध सामग्रियों की उत्पत्ति होती है। जब इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं, तो प्रत्येक पर उनका

अधिष्ठाता देव रहता है। इसकी पुष्टि *भागवत* के इस कथन से तथा *ब्रह्म-संहिता* से भी होती है कि भगवान् के विराट रूप के नेत्रों के रूप में सूर्य प्रकट होता है। सूर्य विराट रूप के नेत्रों पर आश्रित है। *ब्रह्म-संहिता* का यह भी कथन है कि सूर्य श्रीभगवान् कृष्ण का नेत्र है। *यच्चक्षुरेष सविता*। सविता का अर्थ सूर्य है। सूर्य भगवान् का नेत्र है। वास्तव में, प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति परमेश्वर के शरीर से होती है। प्रकृति पदार्थों की पूर्तिकर्त्री मात्र है। सृष्टि तो परमेश्वर द्वारा की जाती है जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः स्यूते सचराचरम्*—इस दृश्य जगत में प्रकृति मेरी अध्यक्षता में समस्त चर तथा अचर वस्तुओं को उत्पन्न करती है।

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्रवादयस्ततः ।

तत ओषधयश्चासन्शिश्नं निर्बिभेदे ततः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

निर्बिभेद—प्रकट हुआ; विराजः—विराट रूप का; त्वक्—त्वचा, चमड़ी; रोम—बाल; श्मश्रु—दाढ़ी, मूँछ; आदयः—इत्यादि; ततः—तब; ततः—उस पर; ओषधयः—जड़ी-बूटियाँ; च—यथा; आसन्—प्रकट हुई; शिश्नम्—लिंग; निर्बिभेदे—प्रकट हुआ; ततः—इसके बाद।

तब भगवान् के विराट रूप, विराट पुरुष ने अपनी त्वचा प्रकट की और उस पर बाल ( रोम ), मूँछ तथा दाढ़ी निकल आये। तत्पश्चात् सारी जड़ी-बूटियाँ प्रकट हुईं और तब जननेन्द्रियाँ भी प्रकट हुईं।

तात्पर्य : त्वचा स्पर्श अनुभूति का स्थान है। जो देवता जड़ी-बूटियों के उत्पादन का नियन्त्रण करते हैं, वे त्वगेन्द्रिय के अधिष्ठाता हैं।

रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम् ।

गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; तस्मात्—उससे; आपः—जल का अधिष्ठाता देव; आसन्—प्रकट हुआ; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; वै—निस्सन्देह; गुदम्—गुदा; गुदात्—गुदा से; अपानः—अपान वायु निकालने की इन्द्रिय; अपानात्—अपान से; च—यथा; मृत्युः—मृत्यु; लोक-भयम्-करः—ब्रह्माण्ड भर में भय उत्पन्न करने वाला।

तत्पश्चात् वीर्य ( प्रजनन क्षमता ) और जल का अधिष्ठाता देव प्रकट हुआ। फिर गुदा

और उसकी इन्द्रिय और उसके भी बाद मृत्यु का देवता प्रकट हुआ जिससे सारा ब्रह्माण्ड भयभीत रहता है।

**तात्पर्य :** यहाँ यह समझना होगा कि वीर्य-स्खलन की क्षमता ही मृत्यु का कारण है। अतः योगी तथा अध्यात्मवादी, जो अधिक काल तक जीवित रहना चाहते हैं, वे स्वेच्छा से वीर्य-स्खलन रोकते हैं। जो जितना ही वीर्य-स्खलन रोक सकता है, वह उतना ही मृत्यु से दूर रह सकता है। ऐसे अनेक योगी हैं, जो इस विधि से तीन सौ या सात सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं। *भागवत* में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वीर्यपात ही भयावह मृत्यु का कारण है। जो जितना ही विषयी होता है उतनी ही जल्दी उसकी मृत्यु होती है।

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट् ।

पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ॥ ५८ ॥

#### शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; च—यथा; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; बलम्—शक्ति; ताभ्याम्—उनसे; ततः—तत्पश्चात्; स्वराट्—इन्द्र; पादौ—दो पाँव; च—यथा; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; गतिः—चलने की क्रिया; ताभ्याम्—उनसे; ततः—तब; हरिः—भगवान् विष्णु।

तत्पश्चात् भगवान् के विराट रूप के दो हाथ प्रकट हुए और उन्हीं के साथ वस्तुओं को पकड़ने तथा गिराने की शक्ति आई। फिर इन्द्र देव प्रकट हुए। तदनन्तर दो पाँव प्रकट हुए, उन्हीं के साथ चलने-फिरने की क्रिया आई और इसके बाद भगवान् विष्णु प्रकट हुए।

**तात्पर्य :** हाथों का अधिष्ठाता देव इन्द्र और गति का अधिष्ठाता देव भगवान् विष्णु हैं। विराट-पुरुष के पाँव प्रकट होने पर विष्णु का प्राकट्य हुआ।

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।

नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥ ५९ ॥

#### शब्दार्थ

नाड्यः—नसें, नाड़ियाँ; अस्य—विराट पुरुष की; निरभिद्यन्त—प्रकट हुईं; ताभ्यः—उनसे; लोहितम्—रक्त; आभृतम्—उत्पन्न हुआ; नद्यः—नदियाँ; ततः—उससे; समभवन्—प्रकट हुए; उदरम्—पेट; निरभिद्यत—प्रकट हुआ।

विराट शरीर की नाड़ियाँ प्रकट हुईं और तब लाल रक्त-कणिकाएँ या रक्त प्रकट हुआ। इसके पीछे नदियाँ ( नाड़ियों की अधिष्ठात्री ) और तब उस शरीर में पेट प्रकट हुआ।

तात्पर्य : रक्त की नाड़ियों की तुलना नदियों से की गई है। जब विराट रूप में नाड़ियाँ प्रकट हुईं तो विभिन्न लोकों में नदियाँ भी प्रकटीं। नदियों का अधिष्ठाता देव नाड़ी-मण्डल का भी अधिष्ठाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में 'तन्त्रिका अस्थिरता' रोग से पीड़ित व्यक्ति को बहती नदी में डुबकी लगाकर स्नान करने की संस्तुति की जाती है।

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत् ।

अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥ ६० ॥

#### शब्दार्थ

क्षुत्-पिपासे—भूख तथा प्यास; ततः—तब; स्याताम्—प्रकट हुए; समुद्रः—समुद्र; तु—तब; एतयोः—इनसे; अभूत्—उत्पन्न हुआ; अथ—तब; अस्य—विराट रूप का; हृदयम्—हृदय; भिन्नम्—प्रकट हुआ; हृदयात्—हृदय से; मनः—मन; उत्थितम्—प्रकट हुआ।

तत्पश्चात् भूख तथा प्यास की अनुभूतियाँ उत्पन्न हुईं और इनके साथ ही समुद्र का प्राकट्य हुआ। फिर हृदय प्रकट हुआ और हृदय के साथ-साथ मन प्रकट हुआ।

तात्पर्य : समुद्र को पेट का अधिष्ठाता देव माना गया है, जहाँ से भूख तथा प्यास की अनुभूति उत्पन्न होती है। जब किसी को ठीक से भूख प्यास नहीं लगती तो आयुर्वेदिक उपचार में उस मनुष्य को समुद्र में स्नान करने की सलाह दी जाती है।

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः ।

अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥ ६१ ॥

#### शब्दार्थ

मनसः—मन से; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; जातः—उत्पन्न हुआ; बुद्धिः—बुद्धि; बुद्धेः—बुद्धि से; गिराम् पतिः—वाणी के स्वामी ( ब्रह्मा ); अहङ्कारः—अहंकार; ततः—तब; रुद्रः—शिव जी; चित्तम्—चेतना; चैत्यः—चेतना का अधिष्ठाता देव; ततः—तब; अभवत्—प्रकट हुआ।

मन के बाद चन्द्रमा प्रकट हुआ। फिर बुद्धि और बुद्धि के बाद ब्रह्मा जी प्रकट हुए। तब अहंकार, फिर शिव जी और शिव जी के बाद चेतना तथा चेतना का अधिष्ठाता देव

**प्रकट हुए।**

**तात्पर्य :** मन के प्रकट होने पर चन्द्रमा प्रकट हुआ। यह इस बात का सूचक है कि चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता देव है। इसी प्रकार ब्रह्मा जी बुद्धि के बाद प्रकट होने से बुद्धि के अधिष्ठाता हैं और शिवजी अहंकार के बाद प्रकट होने से अहंकार के अधिष्ठाता हैं। दूसरे शब्दों में, चन्द्रमा सतोगुण, ब्रह्मा रजोगुण तथा शिव तमोगुण से सूचक हैं। अहंकार के पश्चात् चेतना का उदय सूचित करता है कि प्रारम्भ से भौतिक चेतना तमोगुण के अधीन रहती है, अतः मनुष्य को अपनी चेतना शुद्ध करके शुद्ध बनना होता है। यह शुद्धिकरण कृष्णचेतना (कृष्णभावनामृत) कहलाती है। चेतना के शुद्ध होते ही अहंकार दूर हो जाता है। आत्मा के साथ शरीर की पहचान मिथ्या पहचान या अहंकार कहलाती है। भगवान् चैतन्य अपनी कृति *शिक्षाष्टक* में इसकी पुष्टि करते हैं। वे कहते हैं कि हरे कृष्ण महामन्त्र के उच्चारण करने का पहला परिणाम यह निकलता है कि चेतना या मन रूपी दर्पण से धूल हट जाती है और तब तुरन्त ही संसार की प्रज्वलित अग्नि समाप्त हो जाती है। संसार की यह अग्नि अहंकार के कारण होती है, किन्तु अहंकार के हटते ही मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का पता चल जाता है। उस समय वह सचमुच माया के पाश से मुक्त हो जाता है। ज्योंही वह मिथ्या अहंकार के चंगुल से छूटता है कि उसकी बुद्धि भी विमल हो जाती है और तब उनका मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में लगा रहता है।

भगवान् का आविर्भाव पूर्णिमा के दिन गौरचन्द्र के अथवा कलंकरहित दिव्य चन्द्रमा के रूप में हुआ। भौतिक चन्द्रमा में धब्बे होते हैं, किन्तु दिव्य चन्द्रमा अर्थात् गौरचन्द्र में धब्बे नहीं होते। शुद्ध मन को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए मनुष्य को निष्कलुष चन्द्रमा या गौरचन्द्र की पूजा करनी होती है। जो लोग कामी हैं या जीवन में उन्नति करने में अपनी बुद्धि का प्रदर्शन करना चाहते हैं, वे सामान्य रूप से ब्रह्मा के उपासक होते हैं और जो लोग घोर अज्ञान में रहकर अपने को शरीर मानते हैं, वे शिवजी की पूजा करते हैं। हिरण्यकशिपु तथा रावण जैसे भौतिकतावादी व्यक्ति ब्रह्मा या शिव के उपासक होते हैं, किन्तु कृष्णचेतना में रहने

वाले प्रह्लाद तथा अन्य भक्त परमेश्वर की उपासना करते हैं ।

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।

पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥ ६२ ॥

**शब्दार्थ**

एते—ये; हि—निस्सन्देह; अभ्युत्थिताः—उत्पन्न; देवाः—देवता; न—नहीं; एव—रंचमात्र; अस्य—विराट-पुरुष का; उत्थापने—जगाने में; अशकन्—समर्थ; पुनः—फिर; आविविशुः—प्रविष्ट कर गये; खानि—शरीर के छिद्रों में; तम्—उसको; उत्थापयितुम्—जगाने में; क्रमात्—क्रमशः ।

इस तरह जब देवता तथा विभिन्न इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव प्रकट हो चुके, तो उन सबों ने अपने-अपने उत्पत्ति स्थान को जगाना चाहा । किन्तु ऐसा न कर सकने के कारण वे विराट-पुरुष को जगाने के उद्देश्य से उनके शरीर में एक-एक करके पुनः प्रविष्ट हो गये ।

तात्पर्य : भीतर सोते हुए अधिष्ठाता देव को जगाने के लिए मनुष्य को अपने ऐन्द्रिक कर्मों को बाहर से मोड़कर भीतर ले जाना होता है । अगले श्लोकों में विराट-पुरुष को जगाने के लिए जिन ऐन्द्रिक कर्मों की आवश्यकता होती है उनका सुन्दर वर्णन किया गया है ।

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६३ ॥

**शब्दार्थ**

वह्निः—अग्निदेव; वाचा—वागेन्द्रिय से; मुखम्—मुँह; भेजे—प्रविष्ट किया; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; घ्राणेन—घ्राणेन्द्रिय से; नासिके—दोनों नथुनों में; वायुः—वायुदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष ।

अग्निदेव ने वागेन्द्रिय से उनके मुख में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष उठा नहीं । तब वायुदेव ने घ्राणेन्द्रिय से होकर उनके नथुनों में प्रवेश किया, तो भी विराट-पुरुष नहीं जागा ।

अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६४ ॥

**शब्दार्थ**

अक्षिणी—दो आँखें; चक्षुषा—चक्षु इन्द्रिय से; आदित्यः—सूर्यदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब;  
विराट्—विराट-पुरुष; श्रोत्रेण—श्रवणेन्द्रिय से; कर्णौ—दो कानों; च—तथा; दिशः—दिशाओं के अधिष्ठाता देव;  
न—नहीं; उदतिष्ठत्—जागा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष ।

तब सूर्यदेव ने चक्षुरिन्द्रिय से विराट-पुरुष की आँखों में प्रवेश किया, तो भी वह उठा नहीं। इसी तरह दिशाओं के अधिष्ठाता देवों ने श्रवणेन्द्रिय से होकर उनके कानों में प्रवेश किया, किन्तु तो भी वह नहीं उठा।

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।  
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६५ ॥

#### शब्दार्थ

त्वचम्—विराट-पुरुष की चमड़ी; रोमभिः—शरीर के ऊपर के रोओं से; ओषध्यः—जड़ी-बूटियों के अधिष्ठाता देव;  
न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; रेतसा—वीर्य से; शिश्नम्—लिंग; आपः—जल-देव;  
तु—तब; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष ।

त्वचा तथा जड़ी-बूटियों के अधिष्ठाता देवों ने शरीर के रोमों से त्वचा में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष नहीं उठा। तब जल के अधिष्ठाता देव ने वीर्य के माध्यम से जननांग में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष नहीं जागा।

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।  
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६६ ॥

#### शब्दार्थ

गुदम्—गुदा; मृत्युः—मृत्यु का देवता; अपानेन—अपान वायु की इन्द्रिय से; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष; हस्तौ—दोनों हाथ; इन्द्रः—इन्द्रदेव; बलेन—वस्तुओं को पकड़ने तथा गिराने की शक्ति से; एव—निस्सन्देह; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—इतने पर भी; विराट्—विराट-पुरुष ।

मृत्यु-देव ने अपान-इन्द्रिय से उनकी गुदा में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष में कोई गति नहीं आई। तब इन्द्रदेव ने हाथों में पकड़कर गिराने की शक्ति के हाथों में प्रवेश किया, किन्तु इतने पर भी विराट-पुरुष उठा नहीं।

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।  
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६७ ॥

#### शब्दार्थ



विष्णुः—भगवान् विष्णु; गत्या—गति से; एव—निस्सन्देह; चरणौ—दो पाँव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष; नाडीः—नाड़ियाँ; नद्यः—नदियाँ नदी के देवता; लोहितेन—रक्त के द्वारा, संचरण की शक्ति से; न—नहीं; उदतिष्ठत्—हिला डुला; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष।

भगवान् विष्णु ने गति की क्षमता के साथ उनके पाँवों में प्रवेश किया, किन्तु तब भी विराट-पुरुष ने खड़े होने से इनकार कर दिया। तब नदियों ने रक्त-नाड़ियों तथा संचरण शक्ति के माध्यम से रक्त में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष हिला डुला नहीं।

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६८ ॥

#### शब्दार्थ

क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; उदरम्—पेट में; सिन्धुः—समुद्र या समुद्रदेवता; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष; हृदयम्—हृदय; मनसा—मन से; चन्द्रः—चन्द्रदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष।

सागर ने भूख तथा प्यास के सहित उसके पेट में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष ने उठने से इनकार कर दिया। चन्द्रदेव ने मन के साथ उसके हृदय में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष को जगाया न जा सका।

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६९ ॥

#### शब्दार्थ

बुद्ध्या—बुद्धि से; ब्रह्मा—ब्रह्मा जी ने; अपि—भी; हृदयम्—हृदय में; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष; रुद्रः—शिवजी; अभिमत्या—अहंकार से; हृदयम्—हृदय को; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष।

ब्रह्मा भी बुद्धि के साथ उसके हृदय में प्रविष्ट हुए, किन्तु तब भी विराट-पुरुष उठने के लिए राजी न हुआ। रुद्र ने भी अहंकार समेत उसके हृदय में प्रवेश किया, किन्तु तो भी वह टस से मस न हुआ।

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।

विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत् ॥ ७० ॥

#### शब्दार्थ

चित्तेन—चेतना या तर्क से; हृदयम्—हृदय में; चैत्यः—चेतना का अधिष्ठाता देव; क्षेत्र-ज्ञः—क्षेत्र को जानने वाला; प्राविशत्—घुसा; यदा—जब; विराट्—विराट-पुरुष; तदा—तब; एव—ही; पुरुषः—विराट्-पुरुष; सलिलात्—जल से; उदतिष्ठत्—उठ गया।

किन्तु जब चेतना का अधिष्ठाता, अन्तःकरण का नियामक, तर्क के साथ हृदय में प्रविष्ट हुआ तो उसी क्षण विराट-पुरुष कारणार्णव से उठ खड़ा हुआ।

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।

प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥ ७१ ॥

#### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; प्रसुप्तम्—सोया हुआ; पुरुषम्—मनुष्य; प्राण—प्राणवायु; इन्द्रिय—कर्म तथा ज्ञान की इन्द्रियाँ; मनः—मन; धियः—बुद्धि; प्रभवन्ति—समर्थ हैं; विना—के बिना; येन—जिसको ( परमात्मा ); न—नहीं; उत्थापयितुम्—उठाने में; ओजसा—अपनी शक्ति से।

जब मनुष्य सोता रहता है, तो उसकी सारी भौतिक सम्पदा—यथा प्राणशक्ति, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—उसे उत्प्रेरित नहीं कर सकतीं। वह तभी जागृत हो पाता है जब परमात्मा उसकी सहायता करता है।

तात्पर्य : सांख्य दर्शन की व्याख्या यहाँ पर इस दृष्टिकोण से विस्तार से की गई है कि विराट पुरुष अर्थात् श्रीभगवान् का विश्वरूप ही विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों एवं उनके अधिष्ठातृ देवों का उत्पत्ति-केन्द्र है। विराट पुरुष एवं ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों का अथवा जीवों का सम्बन्ध ऐसा जटिल है कि केवल ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग मात्र से उनके अधिष्ठातृ देवों ( भले ही वे परस्पर सम्बद्ध हों) जगाया नहीं जा सकता। विराट पुरुष को जगाना या परमेश्वर को लौकिक कार्यों से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं है। केवल भक्तियोग एवं वैराग्य से ही अखिल परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

तमस्मिन्प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।

भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ ७२ ॥

#### शब्दार्थ

तम्—उस पर; अस्मिन्—इसमें; प्रत्यक्-आत्मानम्—परमात्मा; धिया—मन से; योग-प्रवृत्तया—भक्ति में संलग्न; भक्त्या—भक्ति के माध्यम से; विरक्त्या—विरक्ति से; ज्ञानेन—ज्ञान से; विविच्य—सावधानी से विचार करते हुए; आत्मनि—शरीर में; चिन्तयेत्—सोचना चाहिए।

अतः मनुष्य को समर्पण, वैराग्य तथा एकाग्र भक्ति के माध्यम से प्राप्त आध्यत्मिक

ज्ञान में प्रगति के द्वारा इसी शरीर में परमात्मा को विद्यमान समझ कर उसका चिन्तन करना चाहिए यद्यपि वे इससे अलग रहते हैं।

**तात्पर्य :** मनुष्य अपने भीतर परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। वे मनुष्य के शरीर के भीतर रहते हैं, किन्तु वे इस शरीर से अलग हैं अथवा इस शरीर से परे हैं। यद्यपि परमात्मा व्यष्टि आत्मा के साथ उस शरीर में आसीन है, किन्तु शरीर में उसकी कोई अनुरक्ति नहीं रहती जब कि आत्मा की होती है। अतएव मनुष्य के भक्तिमय सेवा के द्वारा इस भौतिक शरीर से अपने को विलग कर लेना चाहिए। यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख ( भक्त्या ) है कि मनुष्य को परमेश्वर की भक्ति करनी होती है। जैसा कि श्रीमद्भागवत ( १.२.७ ) में कहा गया है—  
*वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः*—जब वासुदेव अर्थात् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु की शुद्ध भक्ति की जाती है, तो इस भौतिक जगत से तुरन्त विरक्ति उत्पन्न होने लगती है। सांख्य का उद्देश्य मनुष्य को भौतिक कल्मष से विलग करना है। श्रीभगवान् की भक्ति करने मात्र से इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है।

जब मनुष्य भौतिक सम्पत्ति की आसक्ति से विरक्त हो जाता है, तो वह अपना मन परमात्मा में केन्द्रित कर सकता है। जब तक मन इस संसार की ओर भटकता रहता है तब तक मन तथा बुद्धि को श्रीभगवान् या उनके अंश-रूप अर्थात् परम-आत्मा में केन्द्रित कर पाना असम्भव होता है। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य भौतिक संसार से विरक्त नहीं हो जाता तब तक वह अपने मन तथा शक्ति को परमेश्वर में नहीं लगा पाता। भौतिक जगत से विरक्त हो जाने के बाद मनुष्य सचमुच परम सत्य का दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब तक वह इन्द्रियभोग या सांसारिक भोग में फँसा रहता है तब तक परम सत्य को समझ पाना सम्भव नहीं होता। *भगवद्गीता* ( १८.५४ ) में भी इसकी पुष्टि हुई है। भौतिक कल्मष से मुक्त व्यक्ति प्रसन्न रहता है और भक्ति में प्रवेश कर सकता है तथा भक्तियोग के द्वारा मुक्त हो सकता है।

*श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में कहा गया है कि मनुष्य भक्ति करके प्रसन्न होता है और प्रसन्न रहने पर वह तत्त्वज्ञान या कृष्णभक्ति को समझ सकता है, अन्यथा ऐसा असम्भव है।

प्रकृति के तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा परमात्मा में मन को केन्द्रित करना यही सांख्य दर्शन का सार है। इस सांख्ययोग की सिद्धि परम सत्य की भक्ति के साथ पूर्ण होती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत “प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त” नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।